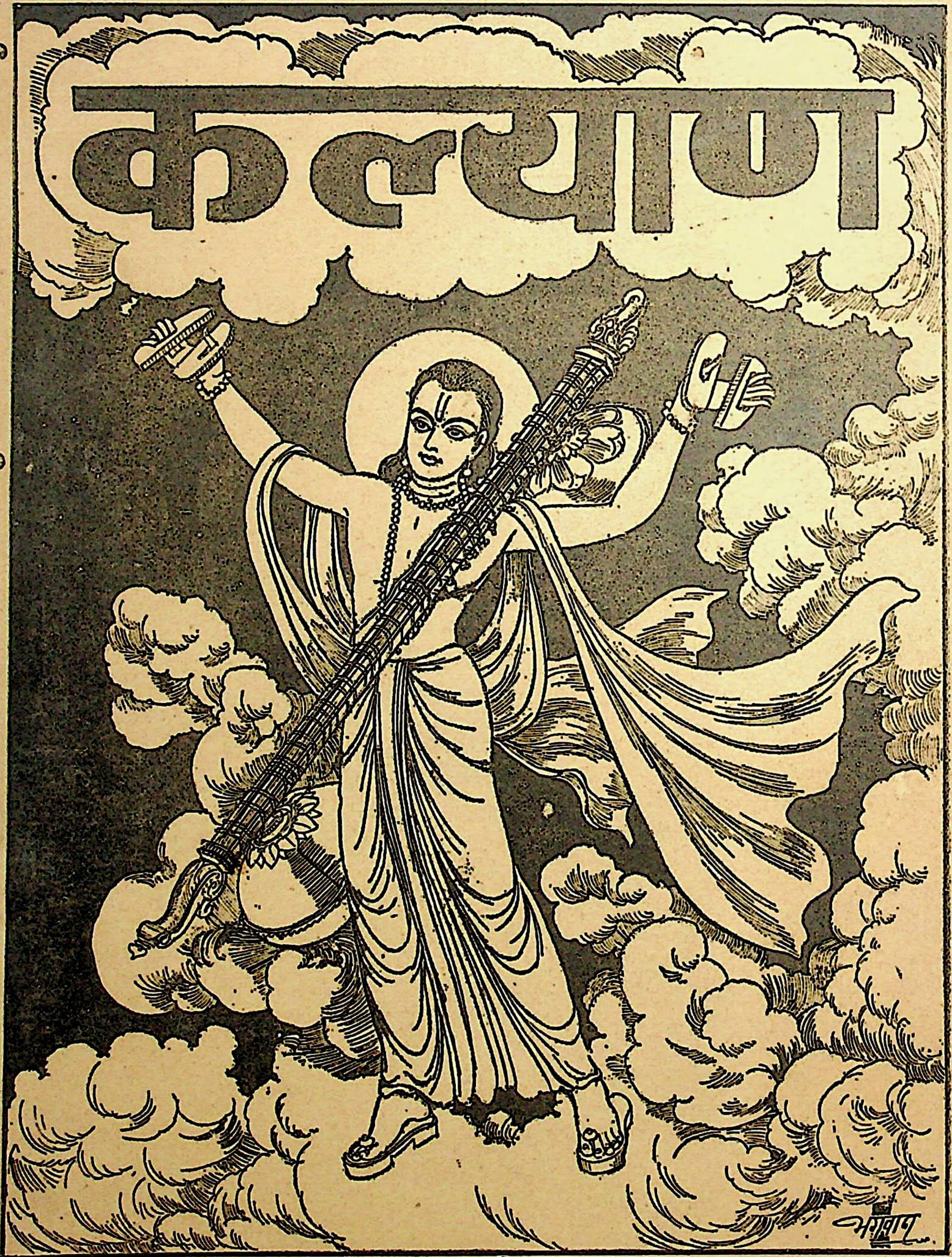
ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण



वर्ष ५८]

हरेर्नामैव नामैव हरेर्नामैव केवलम् ।

[संख्या ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, अप्रैल १९८४

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.०० रु०
विदेशमें —१० पैंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

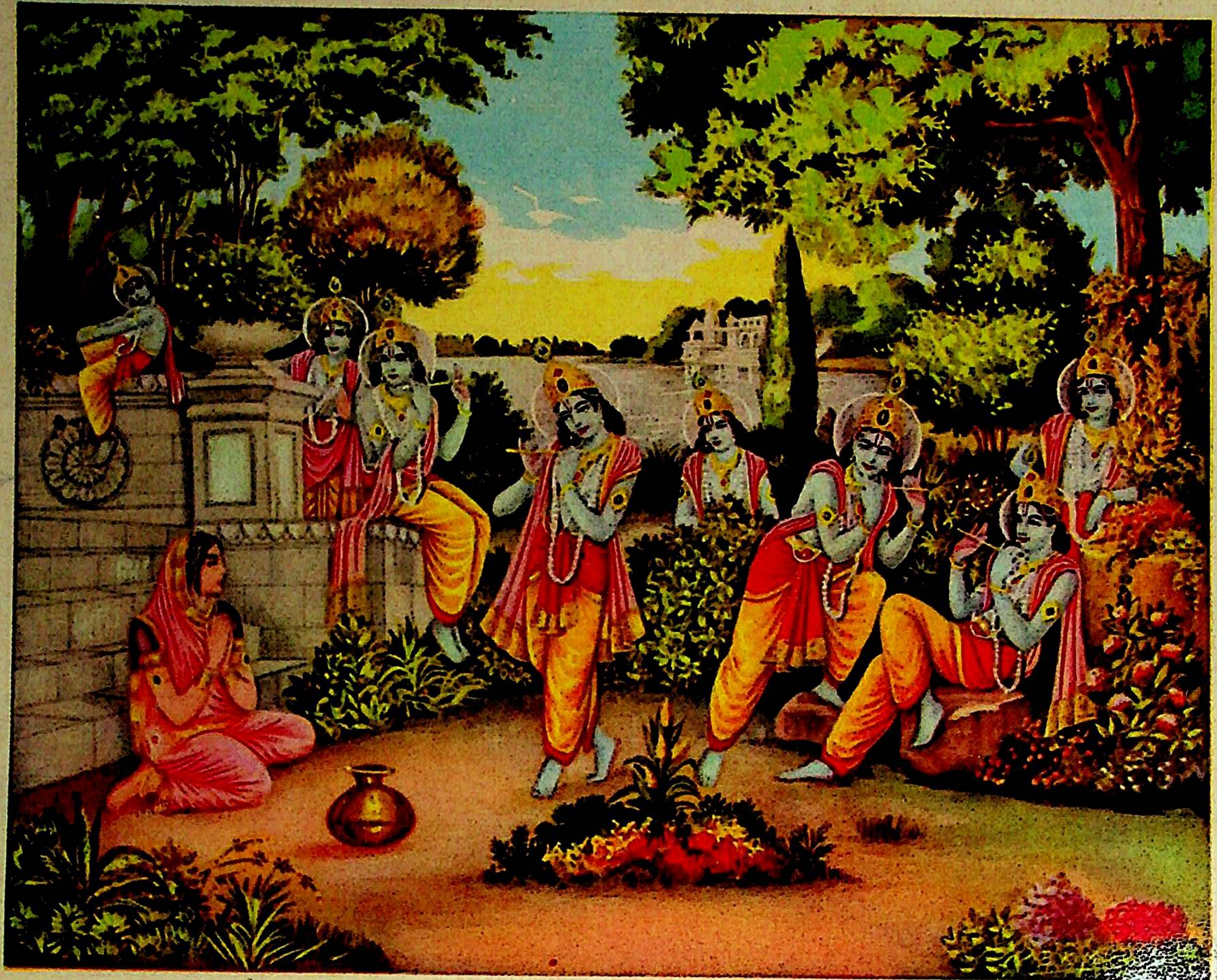
कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें २४.०० रु०
विदेशमें ५२.०० रु०
(३ पौण्ड ५० पैंस)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये [illegible] जालान द्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



श्याममय संसार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५८ | गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, अप्रैल १९८४ ई० | संख्या ४
पूर्ण संख्या ६८९

श्याममय संसार

जित देखौं तित स्याममई है ।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है ॥
सब रंगलमें स्याम भरो है, लोक कहत यह बात नई है ।
मैं बौरी, की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है ॥
चंद्रसार रविसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है ।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है ॥
श्रुतिको अक्षर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है ।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याममई है ॥

कल्याण

कहते हैं कि बवंडर-(चक्रवात-)के ठीक बीचमें एक ऐसा स्थान भी रहता है, जहाँ कोई हलचल नहीं। वहाँ वायुका तनिक भी प्रकोप नहीं रहता, प्रत्युत इतनी शान्ति रहती है कि यदि किसी छोटे शिशुको वहाँ सुलाया जा सके तो वह सुखकी नींद सोता रहेगा। वायुका झकझोर उसे छूतक नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार इस संसारके कोलाहलके मध्यमें प्रभु विराजित हैं तथा जहाँ वे हैं, वहाँ न तो जगत्की हलचल है और न त्रितापकी विषमयी ज्वाला ही। वहाँ सर्वदा और सर्वथा सुख-शान्ति भरी रहती है। जो कोई भी वहाँ पहुँच जाता है, उसके प्राण शीतल हो जाते हैं। जगत्के उलट-फेर उसपर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते।

हम अपने जीवनपर विचार कर देखें तो पता चलेगा कि उसमें न जाने कितने चढ़ाव-उतार हुए हैं, कितनी बार हम हँसे हैं और कितनी बार रोये हैं। संसारके प्रवाहमें बहते हुए हम सदा चञ्चल बने रहते हैं। अबतक कोई भी ऐसा विश्रामस्थल हमें नहीं मिला, जहाँ हम थोड़ी देरके लिये भी आरामसे टिक कर, शान्तिसे स्थिर होकर, थकान मिटा सकें। थककर हम जिसका सहारा लेने चलते हैं, देखते हैं वह भी हमारी ही भाँति हलचलमें है, सतत् उसी प्रवाहमें बह रहा है। इस प्रकार संसारके थपेड़ोंकी चोट खाते-खाते हम सबकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी हैं, मन उद्विग्न हो उठा है और बुद्धि कुण्ठित हो चली है। इन्द्रियाँ यहाँकी वस्तुओंमें सुख ढूँढ़ने जाती हैं, पर सुखके बदले आगे या पीछे इन्हें प्राप्त होती है सदा विषैली ज्वाला ही। ये बुरी तरह झुलस जाती हैं। मन अनुकूलता ढूँढ़ने जाता है, अमुक परिस्थिति ऐसी बन जाय, अमुक व्यक्ति ऐसा बन जाय, यों सोचता हुआ यहाँकी वस्तुओंमें अपने योग्य आश्रय ढूँढ़ने चलता है, पर इसे भी पहले या पीछे मिलती है भयानक प्रतिकूलता ही। आजतक किसीके लिये भी सभी बातें सदा और सर्वथा अनुकूल बन गयी हों, यह न कभी हुआ है न होगा। इसीलिये अनुकूलता ढूँढ़नेवाले मनको प्रतिकूलता प्राप्त होती है और उस समय वह हाहाकार कर उठता है। बुद्धि सारा विवेक लगाकर निर्णय देती है कि बस, इस काममें लगो, इस बार सफलता अवश्य मिलेगी। इस बार तुम्हारे सारे अभावोंकी पूर्ति हो जायगी, किंतु परिणाम यह होता है कि हम असफल हो जाते हैं, अथवा कहीं सफल भी हुए, हमारा कोई-सा एक अभाव पूर्ण भी हो गया तो उसके साथ ही नये दसों-बीसों अभाव खड़े हो जाते हैं। अब इन नये अभावोंकी पूर्ति कैसे हो, इस विषयमें बुद्धि कोई भी निर्णय नहीं कर पाती। इस प्रकार हमारा जीवन इस संसारके बवंडरमें यहाँसे वहाँ उड़ता हुआ भ्रमण कर रहा है, सदा अशान्त बना हुआ है। किंतु यदि हम बवंडरसे खिसककर, इसीके केन्द्रमें विराजित प्रभुसे जा लगें, उनकी छत्रछायामें विश्राम करनेकी ठान लें और साधनात्मक प्रयत्नमें लग जायँ तो निश्चय ही उनका सांनिध्य पा जायँ और हमारी दशा सर्वथा सुधर जाय। उस समय यहाँकी हलचल चाहे कितनी ही भयानक, कितनी ही प्रबल क्यों न हो, हम उससे कभी विचलित नहीं हो सकते। हम प्रभुकी गोदमें चक्रवातके मध्य केन्द्रमें स्थित शिशुकी भाँति सुखसे, चैनसे जीवन बिता सकते हैं। संसारकी हलचल हमें तभीतक प्रभावित करती है, जबतक हम संसारके मूलमध्यमें स्थित प्रभुकी शरण नहीं ग्रहण कर लेते।

'शिव'

साधकोंके प्रति—

प्रायः साधकोंकी यह धारणा रहती है कि करनेसे ही सब कुछ होता है, इसलिये शुभ कर्म करने चाहिये। यह धारणा बड़ी अच्छी है, पर कर्म कर्ताके अधीन होते हैं। अतः कर्ता जैसा होता है, उसके द्वारा कर्म भी वैसे ही होते हैं। कर्मयोग भी निष्काम कर्मसे नहीं होता, अपितु निष्काम कर्तासे होता है; अतः स्मरण, कीर्तन, जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि करना बहुत उत्तम है, इन्हें अवश्य करना चाहिये। इनमें जप, ध्यानादि कर्म एक तो स्वतः होते हैं और एक करने पड़ते हैं। जबतक कर्तामें भाव नहीं है, तबतक उसे जप, ध्यानादि करने पड़ते हैं। पर भाव होनेसे उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक ही जप, ध्यानादि होते हैं और तेजीसे होते हैं। अब कर्तामें भाव कैसे आये? इसपर विचार करना है।

जहाँ हम अपने-आपको 'मैं हूँ' इस प्रकार मानते हैं, वहीं यह मान लें कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'। इस प्रकार जब 'मैं'-पनमें अटल भाव हो जायगा, तब निरन्तर स्वतः भगवान्‌का भजन होगा। अभी तो घर (संसार)-का काम स्वतः होता है और रात-दिन निरन्तर होता है। जैसे नौकरी करते हैं तो समयपर जाते हैं और समयपर आते हैं, वैसे ही जप-ध्यानादि भी समयपर करते हैं। तात्पर्य यह है कि जप-ध्यानादि कर्म समयकी सीमामें बँधे रहते हैं। यदि हमारा भाव हो जाय कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं', तो घरके कामकी तरह रात-दिन सतत भगवान्‌का भजन होगा। भजनके बिना हम रह नहीं सकेंगे और घर-(संसार-)का काम नौकरीकी तरह होगा। अतः कर्ताके भावोंमें परिवर्तन होनेसे कर्मोंमें स्वतः स्वाभाविक और शीघ्रतासे परिवर्तन हो जाता है।

साधकसे भूल यह होती है कि वह 'मैं हूँ'के स्थानपर अपने नाम, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिको बैठा देता है, जैसे मैं अमुक नामवाला हूँ, मैं अमुक वर्णवाला हूँ, मैं साधु हूँ, मैं गृहस्थ हूँ आदि अनेक मान्यताएँ कर लेता है। ऐसी मान्यताओंके कारण साधनकी सिद्धिमें विलम्ब होता है। कारण कि ये मान्यताएँ 'मैं' में रहती हैं और भगवान्‌का भजन (उपासना) 'कर्म' में रहता है। साधकको चाहिये कि वह 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार 'मैं' में भगवान्‌को रखे और वर्णाश्रम आदिको 'कर्म'में रखे। तात्पर्य यह है कि भीतरसे 'मैं तो भगवान्‌का हूँ' ऐसा मानते हुए बाहरसे नाटकमें स्वाँगकी तरह अपने वर्णाश्रम आदिके कर्तव्यका पालन करता रहे।

जहाँ साधक 'मैं हूँ' मानता है, वहाँ भगवान् उससे भी अधिक सूक्ष्मरूपसे विराजमान हैं। 'मैं हूँ' क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र (शरीर)को जाननेवाला (गीता १३। १), और भगवान् कहते हैं कि सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।' (गीता १३। २)। तात्पर्य यह कि क्षेत्रज्ञ तो केवल एक शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाला है, पर क्षेत्रज्ञमें जो परमात्मा हैं, उनका किसी शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं है और सबमें परिपूर्ण होनेके कारण उनका सबसे सम्बन्ध है। वे ही वास्तवमें अपने हैं। हम जिस शरीरको अपना मानते हैं, वह कभी अपना था नहीं, है नहीं और रहेगा नहीं। पर परमात्मा अपने थे, अपने हैं और अपने रहेंगे। वे अपनेसे कभी विमुख नहीं हुए। हमीं उनसे विमुख हुए हैं। वे परमात्मा बड़े मधुर हैं, बड़े प्रिय हैं और अपनेमें हैं—ऐसा माननेपर वे स्मरण किये बिना ही याद रहेंगे, भजन किये बिना ही उनका भजन होगा, चिन्तन किये बिना ही उनका चिन्तन होगा। उनमें स्वतः ऐसी प्रियता होगी, जैसी अपने शरीरमें और अपने जीते रहनेमें भी नहीं है।

'मैं हूँ' में जो 'हूँ' है, वह शरीरको लेकर है। उस 'हूँ' में 'है' रूपसे परमात्मा ही हैं। तू है, यह है, वह है—सब जगह परमात्मा ही 'है'-रूपसे विद्यमान हैं। जड और चेतनमें, स्थावर और जङ्गममें, उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें, भाव और अभावमें—सब जगह वे परमात्मा ज्यों-के-त्यों हैं। साधक यदि 'हूँ'का त्याग कर दे अर्थात् 'मैं'-(अहंता-) को मिटाकर सामान्य सत्तामें स्थित हो जाय (जो वास्तवमें है) और 'है' रूपसे विद्यमान परमात्माको अपना मान ले तो फिर उनकी विस्मृति नहीं होगी। जप-ध्यानादि भी स्वतः होंगे, करने नहीं पड़ेंगे। अपनेमें प्रभु स्वतः हैं, बनावटी नहीं हैं। जो अपनेमें स्वतः है, उसकी ओर दृष्टि करनेमें देरी किस बातकी ? अपनेमें प्रभुको देखनेवाला कौन है ? जो क्षेत्रको देखता था, वही अपनेमें प्रभुको देखता है। जिसका अंश है, उसीको देखता है। अपने अंशीको देखते ही वह अंशीमें मिल जाता है।

अंशीमें मिलनेके दो तरीके हैं—अभेदपूर्वक और अभिन्नतापूर्वक। पहले अभेद होता है, फिर अभिन्नता होती है। अभेदमें भेदकी कुछ गंध रहती है, पर अभिन्नतामें यह मिट जाती है। अभिन्नता वास्तविक है। अभिन्नता भेद-उपासना और अभेद-उपासना—दोनोंमें होती है। भेदमें अभिन्नता ऐसे होती है कि जैसे कहींका लड़का और कहींकी लड़की गृहस्थाश्रममें आकर एक हो जाते हैं तो भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनमें अभिन्नता हो जाती है। इसी प्रकार दो मित्रोंमें भी अभिन्नता होती है। भिन्न-भिन्न होते हुए भी अभिन्न हो जाना 'ज्ञान' है और अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न हो जाना 'भक्ति' है।

स्वयं (स्वरूप) परमात्मासे अभिन्न है, परंतु संसार और शरीरसे सम्बन्ध माननेके कारण परमात्मासे भिन्नता प्रतीत होती है। अतः संसार और शरीरसे विमुख हो जायँ अर्थात् यह 'मैं' नहीं और 'मेरा' नहीं; और 'मैं' प्रभुका हूँ और प्रभु 'मेरे' हैं—इस प्रकार परमात्माके सम्मुख हो जायँ। सम्मुख होते ही उनसे अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नताके बाद फिर बड़ा विचित्र आनन्द प्राप्त होता है। वह (द्वैत) अद्वैतसे भी सुन्दर है—'**भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्**'। वहाँ केवल आनन्द-ही-आनन्द है, मस्ती-ही-मस्ती है। उसे प्राप्त करना चाहें तो अभी कर सकते हैं। प्राप्त क्या करना है, वह तो प्राप्त ही है। केवल दृष्टि उधर करनी है। इतनी सीधी, सरल और श्रेष्ठ बात कोई नहीं है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८ । ५५)

'पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

'**विशते तदनन्तरम्**' पदोंका यह अभिप्राय है कि भगवान्‌को तत्त्वसे जानने अर्थात् उनका अनुभव होनेके बाद फिर उनसे अभिन्न होनेमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं पड़ता। शरीर-संसारसे माना हुआ सम्बन्ध छूटते ही ज्यों-के-त्यों विद्यमान परमात्माका अनुभव हो जाता है। उनका अनुभव होते ही तत्काल भिन्नता मिट जाती है। वास्तवमें भिन्नताकी सत्ता है ही नहीं, तभी वह मिटती है। यदि वास्तवमें भिन्नता होती, तो उस-(सत्-)का अभाव कैसे होता ?

असत्-(संसार-)में जो आकर्षण या प्रियता है, वह 'आसक्ति' कहलाती है। वही आकर्षण भगवान्‌में हो जाय, तो उसे 'भक्ति' या 'प्रेम' कहते हैं। धनमें,

भोगोंमें, परिवार आदिमें जो हमारा खिंचाव है, वह भगवान्की ओर होते ही भक्ति हो जाता है। वास्तवमें अपनेमें भक्तिका संस्कार—भगवान्का खिंचाव स्वतः है, पर असत्से सम्बन्ध जोड़नेसे उसकी ओर हो गया। लक्ष्य-(परमात्मा-)की प्राप्ति होनेपर असत्का खिंचाव सर्वथा मिट जाता है।

धर्म

(अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क ३, पृष्ठ-सं० ४७५ से आगे]

धर्म-विवेक

धर्मके चार रूप हैं—१—नित्य–कर्म- संध्यावन्दनादि, २—नैमित्तिक कर्म—संक्रान्ति, ग्रहण आदिके अवसरपर कर्तव्य, ३—काम्यकर्म—स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये यज्ञ-यागादि और ४—प्रायश्चित्त-कर्म—ज्ञात-अज्ञात त्रुटियोंके दोषको मिटानेके लिये शास्त्रोक्त कर्म। इन चारोंका अन्तः-करणकी शुद्धिमें उपयोग है। ये चार प्रकारसे अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं—१—अधःपतनके कारणभूत प्रत्यवायको मिटा देते हैं। २—जन्म-जन्मान्तरके या सङ्गदोषसे उत्पन्न मलविक्षेपको भगा देते हैं। ३—अनात्मचिन्तनसे वैराग्य होनेके कारण आत्म-चिन्तनके लिये उन्मुख करते हैं अर्थात् जिज्ञासा देते हैं और ४—इन्हींके द्वारा ज्ञानोत्पत्ति भी होती है। इस प्रकार धर्मानुष्ठान हमारे जीवनको पूर्णताके संनिकट पहुँचा देता है।

धर्मसे पुरुषार्थ-सिद्धि

शास्त्रोक्त सकाम-कर्मसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; क्योंकि अलौकिक स्वर्ग-सुख, ब्रह्मलोक आदि भोगनेकी सामर्थ्य अन्तःकरणमें नहीं रहती। धर्मानुष्ठानके द्वारा उनके भोग-योग्य अन्तःशरीरका निर्माण होता है। वह लौकिक शरीरसे विलक्षण होता है। सकाम-कर्म अशुद्धियोंको दूर करके इस शुद्ध सात्त्विक शरीरको उत्पन्न करता है; यदि बीचमें ही कदाचित् वैराग्य उदय हो जाय तो परमार्थस्वरूप परमात्माका भी साक्षात्कार हो जाता है।

संसारके पदार्थ इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। उनकी प्राप्तिकी इच्छा अर्थ–पुरुषार्थके नामसे कही जाती है। वे अपने शरीर और मनसे बाहर रहते हैं। उनका संयोग श्रम-साध्य है और वियोग नैसर्गिक। उनकी प्राप्तिमें पराधीनता है, चिन्तनमें तन्मयता होनेसे जड़ता है, अप्राप्त होनेपर दुःख है और प्राप्त होनेपर भी विनाशका भय है। अर्थमें सुख नहीं है। अर्थके मिलनकी कल्पना या उसके मिलनकी अनुभूतिमें सुख है। सुख सर्वथा एक मानसिक अनुभूति है। बाह्य-पदार्थोंमें मानसिक अनुभूतिके लिये निमित्त होनेकी कल्पना भर की जा सकती है। बाह्य-पदार्थ स्थान, काल, अभिरुचि, अवस्था अथवा स्वगत परिवर्तनके कारण कभी सुख देते हैं तो कभी दुःख देते हैं। इसलिये कामनापूर्तिके अनुकूल होनेपर ही अर्थ पुरुषार्थ होता है। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें वही दुःखप्रद हो जाता है। अर्थ मुख्य पुरुषार्थ नहीं है, काम पुरुषार्थका अङ्ग होनेसे गौण पुरुषार्थ है।

अर्थ बहिरङ्ग है, काम अन्तरङ्ग है। यह अन्तःकरणमें ही रहता है, बाहर नहीं। मनोरूप होनेसे इसकी गति उच्छृङ्खल है। अनुभूतिके संस्कार, दूरकी वस्तुओंके सम्बन्धमें मनोराज्य, प्राप्तके प्रति ममता और अभिमान, भोगमें आत्मविस्मृति—ये सब काम-पुरुषार्थके सहचर हैं। यह सब होनेपर भी काम-पूर्तिमें सुख है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अनुभवसिद्ध है कि अभिरुचिके अनुरूप भोग प्राप्त होनेपर सुख होता है। तो क्या इसको रुचिपर ही छोड़ देना चाहिये? चाहे जिस वस्तु और व्यक्तिपर स्वत्व स्थापित कर लें, उसका उपभोग कर लें, ऐसा क्या अपने हितमें या समाजके हितमें उपयोगी है? ऐसी स्थिति तो पशुसे भी गयी-बीती होगी। इसलिये बहिरङ्ग अर्थ और अन्तरङ्ग-काम दोनोंके नियन्त्रणके लिये जीवनमें धर्मकी आवश्यकता है। धर्मका निवास बुद्धिमें है। उपनिषद्का वचन है—विज्ञान ही यज्ञका विस्तारक है। अर्थ-संग्रह और भोग-प्रवृत्तिका नियन्त्रण करनेके लिये अन्तर्यामी परमेश्वरकी ही एक शक्ति बुद्धिमें अवतीर्ण होती है। वह बुद्धिस्थ होकर ही उचित-अनुचित, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्याकर्तव्यको इङ्गित करता रहता है। धर्ममें स्थिरता है, प्रतिष्ठा है, विश्वास है, आत्मबल है

और प्रज्ञाकी अपराधीनता है । विषयवासनाका आक्रमण होनेपर भी प्रज्ञा हारती नहीं, धर्मके बलपर प्रतिष्ठित रहती है। लक्ष्योन्मुख जीवनको धर्म ही आगे बढ़ाता है और पथभ्रष्ट होनेसे त्राण करता है। वह कल्याणका मूल है, निर्वाणका सोपान है।

धर्म उच्छृङ्खल अर्थ-तृष्णाको संयत तथा भोग-लिप्साको नियमित करता है । इस प्रकार दुराचरणके आन्तरिक निमित्तोंको ही कुण्ठित कर देता है। धर्मके दो काम हैं—स्वच्छन्द प्रवृत्तिका अवरोध और निवृत्तिकी परिपुष्टि। अवरोधसे अर्थकामपर नियन्त्रण होता है और निवृत्तिकी परिपुष्टिसे मोक्ष—पुरुषार्थ-प्राप्तिमें सहायता मिलती है। इस प्रकार धर्म पराधीनताके बन्धनको काटता है और मुक्तिका मार्ग उन्मुक्त कर देता है। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षका निवास आत्मामें है, वह आत्मरूप ही है। अतएव निवृत्तिकी परिपुष्टिके बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती। धर्मका चाहे कोई भी अङ्ग हो वह दुःखप्रद संसारके किसी-न-किसी अंशका निवर्तक होता है। जो दोषोंका निवर्तक नहीं है, वह धर्म ही नहीं है।

मिथ्याज्ञान-मूलक राग-द्वेष और मोहरूप दोष ही प्रवृत्ति-विस्तारके मूल कारण हैं। योगदर्शनके अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेशरूप क्लेशोंका मूल भी अविद्या ही है। वे अविद्याके खेतमें पनपते-फलते एवं फूलते हैं। अविद्या स्वयं महाक्लेश है। वेदान्त अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित स्वतःसिद्ध आत्माको ही मोक्षकी संज्ञा देता है। अतएव मोक्ष-पुरुषार्थीको निवृत्तिप्रधान धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये।

परमोपयोगी साधन

(एक संतका प्रसाद)

[गताङ्क ३, पृष्ठ-संख्या ४७९से आगे]

१३१—पश्चात्ताप करनेसे पाप नष्ट हो जाता है और पाप नष्ट हो जानेपर चित्त ऐसा शुद्ध हो जाता है कि उससे भगवान्‌का साक्षात्कार किया जा सकता है।

१३२—मन, वाणी और शरीर—तीनोंकी एकता होनेपर ही संकल्पसिद्धि होती है। मनमें जिसका संकल्प हो, वही बात वाणीसे कही जाय और वही कर्म शरीरसे किया जाय तो वह संकल्प किसी प्रकार असफल नहीं हो सकता। अन्ततक दृढ़ बना रहता है।

१३३—क्रोधको वशमें करनेके साधन हैं प्रतिज्ञा और विचार। जब क्रोधका वेग आवे तो उसे सहन करके रोकनेका प्रयत्न करो। यदि कभी क्रोध करना आवश्यक जान पड़े तो इस प्रकार करो जिससे हृदयमें जलन न हो। यदि किसी बच्चेके एक चपत लगानेसे काम चल सकता हो तो चार चपतें लगानेकी क्या आवश्यकता है। यह तो हुई विचारकी बात। दूसरा साधन है क्रोध न करनेकी प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञाके साथ ही प्रायश्चित्तका नियम भी कर लेना चाहिये। जब प्रमादवश प्रतिज्ञा भंग हो जाय, तब प्रायश्चित्त करके पुनः क्रोध न करनेकी प्रतिज्ञा करे। इस प्रकार यह प्रतिज्ञा ही एक दिन पार लगा देगी। बिना प्रतिज्ञा किये किसी भी नियमका पूर्णतया निर्वाह नहीं हो सकता। जो मनुष्य प्रतिज्ञा नहीं करता वह अपने लिये झूठ न बोलनेपर भी दूसरेके अनुरोधसे उसकी प्रसन्नताके लिये झूठी गवाही दे देगा। परंतु जो असत्य भाषण न करनेकी प्रतिज्ञा कर लेगा, वह कभी मिथ्या भाषण नहीं करेगा। इसी प्रकार क्रोधसे भी प्रतिज्ञा-प्रायश्चित्तके द्वारा ही छुटकारा मिल सकता है।

१३४—ये सात बातें सभीको धारण करनी चाहिये—

(१) तृष्णाका सर्वथा अभाव।

(२) स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना।

(३) शीत-उष्ण एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहना।

(४) वेद-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करना ।

(५) मनको वशमें रखना ।

(६) इन्द्रियोंको अपने अधीन रखना ।

(७) शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ।

१३५—चित्तमें कोई चिन्तन न हो——इसीका नाम मौन है ।

१३६—भोजन, स्त्री और धन——इन तीनकी लिप्सा त्याग देनेसे सब कुछ हो सकता है ।

पाँच बातें सर्वदा याद रखनी चाहिये——

(१) सहन करना ।

(२) निरभिमानता ।

(३) धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय ।

(४) पदार्थ कितना ही मिले, किंतु उसे परिमित-रूपसे खाना ।

(५) समय व्यर्थ न खोना ।

१३८—मनपर अधिकार प्राप्त करनेके लिये ये पाँच बातें बहुत उपयोगी हैं——

(१) मनोराज्यका त्याग ।

(२) मौन अथवा मितभाषण ।

(३) स्त्री-सङ्गका त्याग ।

(४) एकान्त-सेवन ।

(५) धार्मिक पुस्तकोंका पाठ ।

१३९—लौकिक और वैदिक धर्मोंका त्याग साधन-अवस्थामें तो पतनका कारण है, किंतु सिद्धके लिये स्वाभाविक है ।

१४०—अपमान और निन्दा सहन करनेसे तप बढ़ता है । सेवककी सेवा करनेसे सेव्यका तप क्षीण होता है । अतः सेवा करनेसे सेवकका ही लाभ होता है, सेव्यका नहीं । इसलिये जो कोई सेवा करता है, वह अपने लाभके लिये ही करता है ।

१४१—सात जगह मौन रहना चाहिये ।

(१) भजनमें (२) भोजन करते समय (३) शौचमें (४) लघु-शंका करते हुए (५) स्नानके समय (६) यज्ञ या हवन करते हुए और (७) मार्गमें । (समाप्त)

क्रोधनाशका उपाय

छोटी हो या बड़ी—जब कामना पूरी नहीं होती, मनचाही बात नहीं होती तब कामनापर एक चोट लगती है। और, वह चोट खायी हुई कामना ही क्रोध बन जाती है । जबतक कामना है, तबतक क्रोध तो होगा ही; क्योंकि सारी कामनाएँ कभी भी, किसीकी भी पूरी नहीं होतीं । कामनाका नाश होता है—विषयासक्तिके न रहनेसे । अतएव विषयोंके बदले भगवान्‌में प्रीति की जाय और कुछ भी फल प्राप्त हो—मनचाहा या मनका न चाहा, अनुकूल या प्रतिकूल—उसे सर्वज्ञ शक्तिमान् अपने सहज ही परमसुहृद् भगवान्‌का मङ्गल-विधान समझा जाय तो कामना यदि कहीं होगी भी तो उसपर चोट नहीं लगेगी; क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें भगवान्‌की मङ्गलमयताके दर्शनके कारण समता रहेगी । यों विषय-कामना अपने-आप ही नष्ट हो जायगी और क्रोधकी उत्पत्ति नहीं होगी । साधारणतया क्रोधसे बचनेका उपाय है—क्रोधके समय चुप रहना या भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन करने लगना ।

आत्मनिवेदन

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्क ३, पृष्ठ-सं० ४७८ से आगे]

भक्तिका पहला अङ्ग श्रवण है। इसलिये इसको सर्वप्रथम भक्ति कहते हैं। श्रवणके बिना कोई भक्ति नहीं हो सकती। यदि कोई ऐसा उदाहरण मिले तो उसमें भी पूर्व-संस्कार तो मिलेंगे ही, जिनसे यही प्रतीत होता है कि इसने पूर्वजन्ममें ही श्रवण कर लिया होगा। श्रवण आदि भक्ति है। पहले सुनता है तभी तो उसकी रुचि होकर वह इस ओर (भक्तिकी ओर) लगता है। आत्मनिवेदन अन्तिम भक्ति है, इसमें और भक्तियाँ समा जाती हैं। आत्मनिवेदन हो जानेपर उस साधककी भक्ति अनन्य हो जाती है। शरणागतिके जितने भाव हैं, वे स्वयं ही उसमें आ जाते हैं। पतञ्जलिने जो **'ईश्वरप्रणिधान'** कहा है, वह भी इस पुरुषमें आ जाता है तथा उसका फल समाधि-सिद्धि भी उसे मिल जाती है। फिर उद्धारकी तो उसे कोई चिन्ता ही नहीं रहती, उसका तो उद्धार निश्चित हो चुका।

आत्मसमर्पण करके भक्त सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है। उसे अपने लोक-परलोकके लिये किसी प्रकारका भय या चिन्ता नहीं रहती। एक मनुष्य पाठशाला चलाता है, रात-दिन उसकी चिन्तामें लगा है। यदि कोई योग्य सम्पत्तिशाली सज्जन उस कामको सँभाल ले तो फिर वह निश्चिन्त हो जाता है। फिर कभी-कभी वह उसका काम करता भी है तो भी उसे कोई चिन्ता नहीं होती; इसी प्रकार जैसे कोई आदमी अपना काम किसी योग्य व्यक्तिको सौंपकर परदेश जाय तो पीछेके कामकी कोई चिन्ता नहीं रहती, ऐसे ही जो अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसके लिये भय और चिन्ताका कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उसके आनन्दका पार नहीं रहता। जैसे किसी कंगाल लड़केको कोई करोड़पति दत्तक (गोद) ले तो वह बड़ी प्रसन्नतासे उस पिताकी गोदमें जाकर बैठ जाता है और निश्चिन्त हो जाता है। वह जानता है कि मेरे पास पाँच पैसे भी नहीं थे और अब मैं करोड़ोंकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी हो गया; अतः उस पिताकी गोदमें बैठकर उसे बड़ा ही आनन्द होता है; क्योंकि इससे उसके अन्न-वस्त्रकी चिन्ता सदाके लिये मिट जाती है। यह तो एक मनुष्यकी गोद बैठनेकी बात है, परंतु जो उस परमात्माको आत्मसमर्पण कर देता है उसके आनन्दका क्या ठिकाना है! वहाँ भयकी बात ही कहाँ है? जब साधारण धनवान्‌की गोदमें बैठनेवालेको भी भय नहीं रहता, तब परमात्मा तो सर्वसामर्थ्यवान् हैं, उसकी गोदमें भय कैसा? वहाँ पहुँचकर फिर शान्तिका पार नहीं रहता। धनवान्‌की गोदमें बैठनेवाला तो धनके स्वार्थवश, उसमें बाधा पड़नेपर उसीका अनिष्ट-चिन्तन कर सकता है। यह उसकी नीचता और कृतघ्नता है। परंतु परमात्माकी गोदमें कोई इस स्वार्थसे नहीं बैठता, उसको इसी बातमें बड़ा आनन्द होता है कि प्रभुने मुझको अपना लिया। हमलोग तो उसके आनन्दको समझ नहीं सकते। बड़ी विलक्षण बात है।

एक करोड़पति वाइसरायसे मिलने जाता है, उसके साथ दो-चार आदमी हैं और वह लड़का भी है, जिसे उसने दत्तक लेनेका विचार किया है। वाइसराय पूछते हैं कि यह लड़का किसका है? वह लड़का कहता है कि मैं इनका हूँ, परंतु जहाँतक वह करोड़पति स्वयं अपने मुँहसे यह बात स्वीकार नहीं कर लेता, वहाँतक वाइसराय उसकी बात नहीं मानते। यदि दूसरी बार वह लड़का अकेला जाता है तो वाइसराय उसका कोई

स्वागत नहीं करते; कहते हैं सेठका पत्र लाओ । तुम ही तो कहते हो कि मैं उनका हूँ, उन्होंने कहाँ स्वीकार किया है ? इस प्रकार उस लड़केके कहनेका कोई विशेष असर नहीं पड़ता । वह लड़का अपने मुँहसे कहता है कि 'मैं इनका हूँ ।' इसमें उसे वह आनन्द नहीं मिलता जो उस धनवान्‌के यह कहनेपर मिलता है कि 'यह मेरा है ।' इसी प्रकार अभी तो हमीं कह रहे हैं कि 'हम आपके हैं ।' जिस दिन प्रभु हमें स्वीकार कर लेंगे और कहेंगे कि 'तू मेरा है' उसी दिन हम उनके सच्चे अपने होंगे । जिसे परमात्मा अपनाते हैं उसके आनन्दको हमलोग क्या कह सकते हैं ? उसमें स्वार्थ नहीं, प्रेम है । दत्तक लिये गये लड़केको तो यदि पिता कष्ट देते हैं तो वह विरुद्ध भी हो जाता है; क्योंकि वह तो धनके लोभसे गया है, परंतु जो निष्काम प्रेमभावसे अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देते हैं, उनके शरीरके तो यदि टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी वे अपना अहोभाग्य ही समझते हैं । वहाँके उपयुक्त तो कोई उदाहरण ही नहीं प्रतीत होता । कोई आदमी किसी महात्माके पास जाता है और उनसे एक वस्त्र स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है । महात्मा अस्वीकार कर देते हैं । वह तो अर्पण करता है, परंतु जहाँतक महात्मा स्वीकार नहीं करते, वहाँतक अर्पण नहीं होता । जब विशेष आग्रह करनेपर महात्मा स्वीकार कर लेते हैं, तब अर्पण हो जाता है । वह कहता है, अहा ! मेरा अहोभाग्य है जो मेरा वस्त्र महात्माजीने स्वीकर कर लिया ! फिर जब महात्मा उस वस्त्रको अपने सेवकोंको न देकर स्वयं अपने काममें लाते हैं, तब उसे कितना आनन्द होता है !

महाराजकी सेवामें एक पंखा भेंट किया जाता है, गरमी खूब पड़ रही है, उसी पंखेसे अपने ही हाथसे हवा करनेका विशेष आग्रह करनेपर यदि वे महात्मा स्वीकार कर लेते हैं तो कितना आनन्द होता है ! महाराज सोना चाहते हैं, उनसे प्रार्थना की जाती है कि महाराज ! मेरी गोदमें सोनेकी कृपा कीजिये । विशेष आग्रहसे यदि वे स्वीकार कर लें तो कितना आनन्द होता है ! अब यदि देखा जाय तो वह महात्मा हैं या नहीं, इसका पता नहीं । हमारी भावनासे ही हमको इतना आनन्द होता है । ऐसे ही वह परमात्मा जिसको बहुत-से महात्मा प्राप्त कर चुके हैं, यदि हमारे शरीरको अपने काममें लाते हैं या काटते भी हैं तो कितना आनन्द होना चाहिये । उस समय हमारा रोम-रोम हर्षित हो जाना चाहिये । यदि हमारे शरीरके चमड़ेकी जूतियाँ बनाकर वे पहन लें, तो हम कृतकृत्य हो जायँ । अहा ! हमारे शरीरका ही यह उपयोग हो रहा है । कितनी दया है ! हमारी वस्तुको प्रभु काममें ला रहे हैं । एक पतिव्रता पतिके सुखसे सुखी होती है । जिस समय पतिदेव उसका तन-मन अपने काममें लाते हैं, उस समय वह अत्यन्त आनन्दित होती है । यद्यपि यह पतिव्रता अपने पतिमें ईश्वर-भाव ही रखती है, परंतु तो भी यह तो समझती है कि वे मेरे लिये ही नारायण हैं । दो घनिष्ठ मित्रोंमेंसे यदि एक दूसरेकी वस्तुको बिना पूछे अपने काममें लाता है तो उस वस्तुके स्वामीको आनन्द ही होता है; यह समझकर उसे और भी अधिक आनन्द होता है कि मेरे मित्रने मेरी वस्तु स्वीकार कर ली । ये सब तो लौकिक बातें हैं । इसी प्रकार यदि साक्षात् परमेश्वर हमारी वस्तुओं और हमारे शरीर आदिको अपने काममें लाते हैं तो उससे बढ़कर हमारे लिये और क्या आनन्दकी बात हो सकती है ? इस प्रकार जो प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, उसके आनन्दका कोई ठिकाना नहीं रहता ।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सहित साधुवेषमें सिंहको साथ लिये राजा मयूरध्वजके यहाँ पहुँचे, उस समय उन्होंने राजाके पुत्र रत्नकुमारका

आधा शरीर अपने सिंहके लिये माँगा । राजाने कहा—'महाराज ! मुझे तो कोई आपत्ति नहीं, परंतु रानीसे पूछना आवश्यक है ।' रानीके स्वीकार करनेपर राजा-रानी दोनोंने पुत्रसे पूछा । पुत्र बोला—ऐसा अवसर फिर कहाँ मिलेगा ? ये तो साक्षात् भगवान् हैं । राजा और रानी दोनों पुत्रको चीरने लगे, पुत्र हँसता है, खिलखिलाता है । उसे यह ज्ञान है कि ये परमेश्वर हैं । उसमें श्रद्धा है, प्रेम है और प्रसन्नता है । राजा और रानीने तो अपनी प्यारी वस्तु ही भगवान्‌के अर्पण की, परंतु रत्नकुमारने तो स्वयं अपने-आपको अर्पण कर दिया ! राजा-रानीको उसके समान आनन्द कैसे हो सकता था ? उस समय रानीकी आँखोंसे आँसू गिरते देखकर साधु बोले—'हम नहीं जीमते ।' रानी कहती है—'महाराज ! मैं पुत्रके मृत्युशोकसे नहीं रो रही हूँ, दुःख यह है कि पुत्रका आधा शरीर काममें आया । आधेने न जाने क्या पाप किया है ?' भगवान् तुरंत प्रकट हो गये । वे तो प्रकट होनेवाले ही थे । यदि हमारा भाव ऐसा हो तो हमारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के अर्पण ही हैं । उन तीनों-(राजा-रानी और पुत्र-)में किसीको भी दुःख होता तो भगवान् स्वीकार नहीं करते । हर्षके साथ अर्पण करना चाहिये । राजा मयूरध्वज, रानी और राजकुमारका-सा भाव हो तो भगवान् तुरंत प्रकट हो जायँ । जो ऐसी प्रसन्नतासे अपने-आपको भगवदर्पण करता है, उसीको भगवान् स्वीकार करते हैं । ऐसे प्रेमसे दी हुई वस्तुको भगवान् नहीं त्यागते । महात्मालोग भी प्रेमसे दी हुई वस्तुको आवश्यकता होनेपर ले लेते हैं । वे समझते हैं कि नहीं लेनेसे इस बेचारेको दुःख होगा । फिर परमात्माकी ओरसे तो खुली आज्ञा हो चुकी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

'जो एक बार भी सच्चे हृदयसे उनकी शरण हो जाता है, उसको वे कभी नहीं त्यागते ।' जैसे किसीके पास एक वस्त्र है, उस वस्त्रने अपने स्वामीको आत्म-समर्पण कर रखा है । वह उसे फाड़े, फेंके, जलावे, बिछावे, ओढ़े अथवा किसीको दे डाले; वह कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देता, वह उसका कैसा ही उपयोग करे, उस वस्त्रको कोई आपत्ति नहीं होती । इस प्रकार जो उन प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, वे उसका चाहे सो करें, उसे कोई आपत्ति नहीं होती । ऐसा पुरुष जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है । वह जीता हुआ ही मुर्देके समान प्रभुके समर्पित हो जाता है, मुर्दा कोई आपत्ति कर सकता हो तो वह भी करे । इस प्रकार जो जीता हुआ ही मुर्देका सच्चा स्वाँग कर दिखलाता है वही जीवन्मुक्त है ।

ऐसा जीवन्मुक्त महात्मा निर्भय हो जाता है, वह शोकसे तर जाता है तथा अटल और नित्य शान्तिको प्राप्त कर लेता है । उस जीवन्मुक्तका संसारमें विचरना हमलोगोंके कल्याणके लिये ही होता है । उसे अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
(गीता ३ । १७)

'जो पुरुष इस प्रकारसे भगवत्-शरण हो जाता है, उसका जीवन केवल लोगोंके कल्याणके लिये ही होता है ।' जैसे पंचायतीके सामानोंसे जो चाहे वही अपना काम निकाल सकता है, उसी प्रकार उस पुरुषसे भी सबको अपना काम निकाल लेनेका अधिकार-सा होता है । ऐसे विरक्त पुरुषोंका जीना संसारके उपकारके लिये ही होता है । परंतु उनमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं संसारके हितके लिये विचरता हूँ । जो ऐसा कहता है वह तो अभिमानी है, वह जीवन्मुक्त कभी नहीं हो सकता । अमानित्व आदि सद्गुण तो उनमें पहलेसे ही आ जाते हैं ।

ऐसे पुरुषोंके दर्शनसे नेत्र, भाषणसे वाणी और चिन्तनसे मन पवित्र हो जाता है। ऐसे पुरुष संसारमें हजारों-लाखों हो चुके हैं। उत्तराखण्डकी तपोभूमिमें तो ऐसे बहुत ऋषियोंने तपस्या की है। वह पवित्र भूमि स्वाभाविक ही वैराग्ययुक्त है। उस भूमिमें रहनेवाले महात्मा पुरुषोंकी महिमा कहाँतक गायी जाय? भगवान्‌से यदि कुछ माँगना हो तो यही माँगे कि 'हे प्रभो! जिन महात्माओंकी महिमा आप गाते हैं, हमें उन्हींके चरण-चिह्नोंका अनुगामी बनाइये।' और माँगनेकी भी क्या आवश्यकता है। जो पुरुष भगवान्‌की शरण हो जायगा और जिसे भगवान् अपना लेंगे उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है, वह तो औरोंका भी उद्धार कर सकता है। ऐसे महात्मामें ऐसे लक्षण आ जाते हैं, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता १२। १८-१९)

'जो पुरुष शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है, और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिरबुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।' (आत्म-समर्पणसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है।) (समाप्त)

सत्यकी साधना

(स्वामी श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी 'जजस्वामी')

भारतीय गणतन्त्रके विधानके निर्माणके समय देशके लिये एक 'मोटो' (सिद्धान्त) आदर्शोक्तिकी आवश्यकता थी। बहुत विचारके पश्चात् 'सत्यमेव जयते' (मुण्डक उप० ३। १। ६) स्वीकृत हुआ, परंतु मुण्डकश्रुतिमें 'सत्यमेव जयते' के पश्चात् 'नानृतम्' शब्द अधिक है, जो देशके 'मोटो'में सम्मिलित नहीं किया गया। इसका कारण अज्ञात है, किंतु अनुमान है कि किसी आधुनिक विद्वान्‌ने कल्पना की कि श्रुतिमें पुनरुक्ति-दोष है, अतः सम्पूर्ण वाक्यका विधि-अंश ही पर्याप्त है; अथवा किसी परिहास-प्रियने भविष्यत्-वृत्तिसे व्यङ्ग्य किया कि भारतभूमिमें स्वतन्त्रताके पश्चात् कभी-कभी 'अनृतम्' भी विजयी होगा, अतः 'अनृतम्' शब्द लिखकर भी क्यों लज्जित किया जाय? अतएव केवल 'सत्यमेव जयते' ही रखा गया।

अब यह प्रश्न उदित हुआ कि 'क्या संसारमें कभी 'अनृतम्' भी विजयी हो सकता है?' इसका समुचित उत्तर है कि कदापि किसी क्षण एक प्रतिशत भी सफलता असत्यको प्राप्त होनी सम्भव नहीं है, यदि किसी भी सीमातक और कुछ क्षणतक सफलता मिल जाय तो लोभी मनुष्य सफलताके कण और क्षणकी वृद्धि करके उसे दीर्घकालीन अथवा शाश्वत बनानेमें सफल हो जायगा जो असम्भव है।

कहते हैं—एक व्यापारी दस गजकी जगह नौ गज कपड़ा दे और दस रुपयेकी जगह ग्यारह रुपये ले तथा इस बातकी घोषणा करता रहे कि मैं ऐसा करता हूँ और सुननेवाले उसके वचनपर विश्वास करें तो क्या यह सम्भव है कि एक भी ग्राहक उससे एक गज कपड़ा कभी खरीदेगा? कदापि नहीं। होता यह है कि वह अपने असत्यको सत्यका आवरण पहनाकर प्रचलित करता है, जिसका

सामयिक विश्वास कर लिया जाता है और जब आवरण-भंग होता है तथा उसकी पोल खुल जाती है, तब वह हानि, अशान्ति, लज्जा एवं अपकीर्तिका अनुभव करता है। वकील, मजिस्ट्रेट, इनकमटैक्सके वकील, अफसर आदि जिनका व्यावहारिक सत्य-असत्यसे अधिक सम्बन्ध होता है, सम्यक् प्रकारसे जानते हैं कि केवल अनृतसे कदापि किसी प्रकारकी सफलता प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत समस्त व्यवहारमें सत्यका आधार लेना सदैव परम आवश्यक है। सिद्ध हुआ कि सफलता कदापि असत्यकी नहीं होती है, सत्याभासकी होती है और जब सत्याभासकी इतनी सफलता संसारमें प्रतीत होती है, तब शुद्ध सत्यकी सफलता निश्चित ही असीम एवं शाश्वत होगी—यह परम सत्य निर्विवाद एवं अनुभवगम्य है।

सत्यार्थ—सत्यका अर्थ क्या है? सामान्यतः जो बात इन्द्रियोंने जैसा ग्रहण किया है और बुद्धिने स्वीकार किया है, वैसा ही उपयुक्त अवसरपर वर्णन करना तथा इसमें कभी प्रमाद न करना ही सत्य है। सत्यका वास्तविक अर्थ 'परम ब्रह्म' है। श्रुति कहती है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीय० २ । १)
'आनन्दो ब्रह्म' (तैत्तिरीय० ३ । ६)

सृष्टिके मूलमें यही ब्रह्म सत्यरूपसे विद्यमान था—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'
(छान्दोग्य० ६ । २ । १)

अन्य त्रिगुणात्मक संसार इसके पश्चात् बना अथवा प्रतीत हुआ। नाम-रूपात्मक समस्त जगत्का जो (वास्तवमें विवर्त) अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, वही सत्य है। वह सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है, जो जीवके शुद्ध स्वरूपमें विलक्षण नहीं है। ऐसा सत्यस्वरूप समस्त सृष्टिका मूल एवं उपादान तथा निमित्तकारण है, वह अपने विवर्त जगत्के समक्ष किसी प्रकार कदापि पराजित नहीं हो सकता। कोई कार्य अपने कारणके विरुद्ध अथवा कारणकी अवज्ञा करके जीवित नहीं रह सकता तथा सत्य-रूप कारण ही सदा-सर्वदा प्रत्येक परिस्थितिमें सफल होता है। इसके विरुद्ध असत्य कथमपि कदापि खड़ा रहनेमें समर्थ नहीं है। यही सत्य जीवनका आधार है तथा हमको इसीका विचार, इसीकी निष्ठा, इसीकी रति, इसीकी उपासना एवं वार्ता सदा-सर्वदा करनी आवश्यक है। विचार एवं श्रद्धापूर्वक समस्त असत् पदार्थोंका बाध करके केवल शाश्वत, अविनाशी, त्रिकालाबाधित सत्यमें यत्नपूर्वक परिनिष्ठित होना चाहिये।

'सत्यभाषण'—सत्यकी आराधनाका एक अङ्ग सत्य बोलना है। इसके विषयमें कुछ विस्तृत वार्ता की जानी उचित है। वेदकी आज्ञा है—

'सत्यं वद' (तैत्तिरीय० १ । ११ । १)
तथा—
'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' (तैत्तिरीय० १ । ११ । १)

अर्थात्—'सत्य बोले और सत्य बोलनेमें कदापि प्रमाद न करे।' तात्पर्य यह है कि सदैव सावधानी बरते और भूलकर भी कभी असत्य न बोले—जैसा इन्द्रियोंसे ग्रहण किया है और बुद्धिने स्वीकार किया है, अवसर प्राप्त होनेपर वैसा ही प्रकट करे।

सत्यकी साधना मनुस्मृतिमें इस प्रकार है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(अ० ४, श्लो० १३८)

सत्य बोले, प्रिय बोले तथा अप्रिय सत्य न बोले और प्रिय अनृत न बोले, यह सनातन धर्म है।

श्रीमद्भगवद्गीताका आदेश है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
(१७ । १५)

महात्माओंने गुर बताया है कि सत्यनिष्ठको सत्य तथा प्रिय, हितकारी एवं मित शब्दोंका सदा प्रयोग करना उचित है। किसी परिस्थितिमें इन सबका मिश्रण प्राप्त न हो सके तो मौन रहना आवश्यक है। कोई व्यक्ति बारह वर्षतक सत्यकी इस प्रकार निरन्तर आराधना करे तो उसको वाक्-सिद्धि प्राप्त होगी।

एक प्रसिद्ध कथा है। एक चोरको किसी महात्माका सत्संग प्राप्त हुआ। महात्माने चोरी करनेका निषेध किया। इसमें चोरके द्वारा अपनी असमर्थता प्रकट करनेपर महात्माने संशोधन किया, 'अच्छा असत्य कभी न बोलना, चोरी करो अथवा न करो।' चोरने सत्य बोलनेकी प्रतिज्ञा कर ली। कुछ समय पश्चात् वह राजमहलमें चोरी करने गया। द्वारपालके पूछनेपर 'कौन है'? उसने उत्तर दिया 'चोर'। द्वारपालने समझा कि यदि वह वास्तविक चोर होता तो ऐसा कदापि न कहता, यह राजाका कोई विश्वासपात्र है और किसी गुप्त राजकार्यमें नियुक्त है। उसने उसे जाने दिया। चोर चोरीका धन लेकर जब वापस आया तो द्वारपालके टोकनेपर उसने कहा कि 'चोरीका माल ले जा रहा हूँ।' द्वारपालने पूर्वकी भाँति विश्वास करके उसे जाने दिया। दूसरे दिन ढूँढ़नेपर चोरके यहाँसे माल निकला। चोरने राजाके समक्ष उपस्थित किये जानेपर समस्त वृत्तान्त सत्य-सत्य वर्णन किया। असाधारण व्यवहार देखकर राजाको अधिक जिज्ञासा हुई और राजाके पूछनेपर चोरने गुरुदत्त सत्य-वचनका आदेश प्रकट किया। राजा चोरकी गुरुनिष्ठा एवं सत्यनिष्ठा देखकर प्रसन्न हो गया और कुछ धन देकर उसकी जीविकाका उचित साधन कर दिया। तत्पश्चात् उसने चोरी करनी छोड़ दी। स्पष्ट है कि बिना अनृत भाषण किये अन्य कोई पापका दुर्गुण होना सम्भव नहीं है। केवल सत्य बोलनेकी निष्ठासे जीवन अवश्यमेव पवित्र एवं शान्त बन सकता है।

श्रीशुक्राचार्यने श्रीमद्भागवतमें राजा बलिको आज्ञा दी कि किस-किस स्थलमें अनृतका प्रयोग उचित है—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥
(श्रीमद्भा० ८। १९। ४३)

'स्त्रीके साथ, परिहासमें, विवाहमें, वित्त अथवा प्राणसंकटके समयमें, गौ-ब्राह्मणकी रक्षाके लिये तथा किसीको मृत्युसे बचानेके लिये झूठ बोलना निन्दनीय नहीं है।'

परंतु ध्यान रहे कि यह अपवादमात्र है; कारण, इस श्लोकसे पूर्वके श्लोकमें लिखा है—

सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः श्वसन् मृतः।
(श्रीमद्भा० ८। १९। ४२)

'जो सभी वस्तुओंके लिये 'नहीं' करता रहता है, अर्थात् झूठ बोलनेका जिसका स्वभाव ही है, उसकी अपकीर्ति हो जाती है, वह तो जीवित रहनेपर भी मृतकके समान ही है।'

एक महात्मा अपने प्रवचनमें सत्य बोलनेका उत्साह-पूर्वक उपदेश दे रहे थे। किसी जिज्ञासुने पूछा, 'महाराज! किसी गौ अथवा मनुष्यके प्राण जाते हों तो क्या उस समय भी सत्य बोला जाय?' उन्होंने जो उत्तर दिया, वह उल्लेखनीय है। महात्मा बोले—'भाई! तुम्हारे चालीस वर्षके जीवनकालमें क्या कभी ऐसा अवसर उपस्थित हुआ, जब किसीका प्राण रहना या न रहना केवल तुम्हारे सत्य अथवा असत्य-भाषणपर निर्भर हुआ हो?' जिज्ञासु बोला—'नहीं महाराज!' महात्मा बोले कि 'क्या कभी तुम्हारे पिता अथवा पितामहके जीवनमें ऐसा अवसर आया?' जिज्ञासुका निषेधात्मक उत्तर प्राप्त होनेपर महात्मा बोले कि 'यदि ऐसा अवसर शतवर्षमें भी प्राप्त नहीं हुआ एवं यत्किंचित् कभी भविष्यमें प्राप्त हो जाय तो तत्काल आकर हमसे अथवा अन्य किसी महापुरुषसे शङ्का-समाधान कर

लेना; परंतु भगवान्के लिये उस समयतक तो सत्य बोलनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा अवश्य करो।' तात्पर्य यह है कि अपवादके व्याजसे मूलधर्मका त्याग अनुचित है। वास्तवमें धर्मकी गति गहन है, अतः प्राण-रक्षाका पुण्य अथवा अनृतके प्रयोगका पाप दोनों अवश्यमेव न्यून अथवा अधिक मात्रामें भोगने पड़ेंगे। जैसे राजा युधिष्ठिरको थोड़े छलयुक्त शब्दोंके प्रयोगके कारण नरकके दर्शन करने पड़े (महाभारत स्वर्गारोहणपर्व ३। १५। १५½ गीताप्रेससे मुद्रित)।

जन-धारणा है कि सदा सत्य बोलनेवाले प्रायः कष्टग्रस्त देखे जाते हैं। यह भ्रममात्र है। प्रथम तो शास्त्रके अनुसार सत्यव्रतका आचरण करनेवालोंकी संख्या अल्प है; द्वितीय उनको कष्ट कदापि कथमपि सत्यके कारण न है तथा न हो सकता है। उनको दुःख पूर्वसंचित पापके फलस्वरूप अथवा कार्य-कुशलताकी न्यूनता आदिके कारण ही होता है। उदाहरणार्थ जैसे किसीने हत्या की, तत्पश्चात् सत्य बोला—उसको हत्या करनेका दण्ड मिलेगा, न कि सत्य बोलनेसे। सत्य बोलनेसे दण्ड प्रायः कम हो जायगा। किसी व्यापारीने लोभवशात् बहुत माल कुसमयमें खरीदकर भर लिया तथा सत्य बोला—उसको व्यापारमें कुशलहीनताके कारण हानि होगी, न कि सत्य बोलनेके कारण। सत्यशीलको अनायास प्राप्त दुःख तप है, जो हृदय शुद्ध करके उसको भगवत्प्रसादका तुरंत भागीदार बना देगा।

असत्य-भाषणके हेतु—

जीवन-सम्बन्धी एक मार्मिक प्रश्न यह है कि असत्य बोलनेमें महती अशान्ति, भय, हानि तथा अपकीर्ति होती है, यह निर्विवाद एवं सर्वगत है, तथापि लोग असत्य क्यों बोलते हैं? इसके प्रायः चार हेतु हैं—

१—अज्ञानवशात्,

२—स्वभाववशात्,

३—परवशात्,

४—स्वार्थवशात्।

१—अज्ञानवशात्—

जिसको सत्य-असत्यका विवेक नहीं है, वह अबोध है, जैसे बालक। उसको असत्य बोलनेका पाप नहीं लगता।

२—स्वभाववशात्—

जो लोग प्रमादसे असत्य बोलते हैं, उनके लिये सावधानी तथा विपरीत भावनाद्वारा सदभ्यास आवश्यक है। वेदकी आज्ञा है कि सत्य बोलनेमें कभी प्रमाद न करे। इसलिये साधकको स्वभाव सुधारना परमावश्यक है, अन्यथा साधनमें उन्नति असम्भव है। स्वभाववश निरर्थक असत्य बोलनेसे किसी प्रकारके लाभकी आशा भी नहीं है, फिर अनृतसे बचनेका प्रयास क्यों न किया जाय। विशेषकर बच्चोंसे कभी वचनभङ्ग एवं असत्य-भाषण नहीं करना चाहिये। इससे उनकी एवं हमारी दोनोंकी हानि है।

३—परवशात्—

परवश होनेसे असत्य भाषण करनेमें पापका फल न्यून अवश्य होता है, परंतु जीवनमें ऐसे अवसर प्रायः उपस्थित नहीं होते एवं युक्तिसे तथा भगवान्के आश्रित होकर बिना असत्य व्यवहारके विषय-परिस्थितिसे निवृत्त हो सकते हैं। इसके सहस्रों उदाहरण हैं, परंतु परवशताके व्याजमें अपने स्वार्थको सिद्ध करनेकी वासना अथवा चेष्टा निहित न होनी आवश्यक है। ऐसे असत्यका प्रायश्चित्त भी अल्प है।

४—स्वार्थवशात्—

सबसे भयानक पाप स्वार्थवश असत्यका प्रयोग है। स्वार्थके अन्तर्गत लोभ, मद, मात्सर्य, काम, ईर्ष्या आदि समस्त दोष सम्मिलित हैं। इनके कारण जो सनातन धर्मके विरुद्ध असत्य-भाषणका प्रयोग करेगा, वह निश्चित ही पापका भागी होगा और इस जन्ममें

अविश्वास, अपकीर्ति तथा महती हानि एवं अशान्तिका अनुभव करेगा, तत्पश्चात् उसको परलोकमें भीषण यातना भोगनी पड़ेगी।

निष्कर्ष—

निष्कर्ष यह है कि सुखके इच्छुक साधकके लिये न्यूनतम यह आवश्यक है कि किसी भी कारणवश किसी समय अनृतका प्रयोग हो जाय तो उसका शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त अवश्य करे। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। परंतु जो ऐसे सुखका अभिलाषी है, जो शाश्वत, स्वाधीन तथा सदा प्राप्त एवं ज्ञात हो उसके लिये परमावश्यक है कि सत्यकी साधनामें तत्पर रहे तथा साधनके सूक्ष्म रहस्यको शास्त्र तथा गुरुकी कृपासे प्राप्त करे तथा प्रत्येक परिस्थितिमें यथासम्भव प्रमाद-रहित **'सत्यं वद'** आदेशका सदा यत्नपूर्वक आचरण करे। इसीमें जीव एवं देशका कल्याण है। **'सत्यमेव जयते नानृतम्।'**

चैतन्य महाप्रभुका प्रादुर्भाव और उत्कर्ष

(लेखक—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल)

रागानुग भक्तिका दूसरा नाम है—प्रेमाभक्ति। इस प्रेमाभक्तिका भण्डार है श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति राधाके पास। राधा श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। वे प्रेमा-भक्तिकी आश्रय हैं, श्रीकृष्ण हैं प्रेमाभक्तिके विषय। विषय वह जिसे प्रेम किया जाय, आश्रय वह जो प्रेम करे।

राधा श्रीकृष्णकी माधुरीपर मुग्ध हैं। वे श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। श्रीकृष्णसे प्रेम कर उन्हें बड़ा सुख मिलता है। यह सब देख-देखकर एक बार श्रीकृष्णके मनमें तीन बातें आयीं—

१—**'श्रीराधाप्रणयमहिमा—कीदृशः'**—अर्थात् राधाकी प्रणय-महिमा कैसी है?

राधिका महाभावस्वरूपिणी हैं। महाभाव कहते हैं घनीभूत प्रेमको। महाभाव है प्रेमकी चरम परिणति। राधामें श्रीकृष्ण-प्रेम घनीभूत है। वे घनीभूत (श्रीकृष्ण) प्रेमकी मूर्ति हैं।

राधाका वह प्रेम श्रीकृष्णमें दिव्य उन्माद पैदा करता है, उन्हें सदा विह्वल बनाये रखता है। वे सोचते ही रह जाते हैं कि राधा-प्रेममें ऐसी कौन-सी शक्ति है जो उन्हें सदैव विभोर किये रहती है। राधाका वह प्रेम कैसा है, श्रीकृष्ण यह जानना चाहते थे।

२—**'अनया आस्वाद्यः, येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः'** अर्थात् राधा मेरी जिस माधुरीका आस्वादन करती हैं, वह माधुरी कैसी है?

श्रीकृष्ण माधुर्यकी खान हैं। जगत्में सभी कुछ अपूर्ण है, एकमात्र श्रीकृष्ण ही पूर्ण हैं। उनका माधुर्य भी पूर्ण है। उस माधुर्यको सम्पूर्णरूपसे उपभोग कौन कर पायेगा? त्रिलोकीमें राधाके अतिरिक्त और कोई नहीं। एकमात्र राधा अपने प्रेमके माध्यमसे श्रीकृष्णके उस माधुर्यको सम्पूर्णतः भोगती हैं।

राधिकाका प्रेम घनीभूत है। वे श्रीकृष्णसे इतना प्रेम करती हैं कि उनके माधुर्यका आस्वादन करनेकी उत्कण्ठा प्रतिक्षण बढ़ती रहती है। इधर राधाका प्रेम बढ़ता है, उधर श्रीकृष्णका माधुर्य विकसित होता है। दोनोंमें प्रतियोगिता-सी चलती है। प्रेम और माधुर्य एक-दूसरेकी वृद्धि करते जाते हैं। उनका वह माधुर्य कैसा, जो राधाके प्रेमको निरन्तर बढ़ाता है, श्रीकृष्ण दूसरी बात यह जानना चाहते थे।

३—**'सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वा'** अर्थात् राधाकी सुखानुभूति कैसी है?

राधा श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं और सुख अनुभव करती हैं। राधा हैं गोपी-शिरोमणि। उनका वह गोपीप्रेम नित्य—अप्राकृत वस्तु है। उसमें कामकी गंध-तक नहीं। काम अर्थात् स्वयंकी इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेकी इच्छा। राधाके प्रेममें श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इच्छा है। यदि राधाका प्रेम ऐसा न होता, तो क्या ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धव गोपीपदरजकी कामना करते—

'वन्दे नन्दव्रज स्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।'

उन्हें प्रेम कर राधाके मानसमें जो सुख-तरङ्गें उठती हैं, वे कैसी हैं, श्रीकृष्ण तीसरी बात यह जानना चाहते थे।

उपर्युक्त तीनों बातें जाननेकी इच्छा श्रीकृष्णके मनमें जगी। राधाका प्रेम कैसा है, उनका स्वयंका माधुर्य कैसा है, राधाका सुख कैसा है!—इन बातोंका उत्तर श्रीकृष्णको कैसे मिल सकता था! उनकी तीनों इच्छाओंकी पूर्ति कैसे हो सकती थी! यह तभी सम्भव होता जब वे राधा बनते।

श्रीकृष्णके लिये स्वयंको छिपाना बड़ा आवश्यक था। आश्रय-जातीय प्रेम-सुख-अनुभूति प्राप्त करनेके लिये राधाके अन्तरमें प्रवेश करना था। राधा-भाव धारण करनेके अतिरिक्त और कोई चारा न था। श्रीकृष्णकी तीन वाञ्छाएँ व्रज-लीलामें पूरी न हुईं। बहुत सोच-विचार करनेपर उन्हें रास्ता सूझा—राधाका भाव धारण करूँ, राधाकी अङ्ग-कान्ति ओढ़ूँ। नवद्वीपमें 'राई-कानू-एकाकृति' (राधा-कृष्ण-मिलित तनु) श्रीचैतन्यदेवके अवतारका प्रधान उद्देश्य उक्त तीन वाञ्छाओंकी पूर्ति था।*

श्रीकृष्ण राधा बने। हृदयमें राधा-भाव धारण किया। उन्हें अनुभूति हुई कि वे राधा हैं। यदि बाहर स्वयंका कृष्णवर्ण रहता, तो उस भावकी पूरी पुष्टि न होती। यही कारण है कि कृष्णने राधाकी अङ्ग-कान्ति भी धारण की। चैतन्य महाप्रभु कृष्ण तो हैं ही, राधा भी हैं। भीतर राधा-भाव, बाहर राधा-वर्ण। चैतन्यदेव राई-कानू-एकाकृति अर्थात् राधा-कृष्ण-मिलित तनु हैं। रसराजस्वरूप कृष्ण और महाभाव-स्वरूपिणी राधा मिलकर गौराङ्ग महाप्रभु हुए हैं। वे भावनिधि हैं, ऐसा कोई भाव नहीं जो उनमें न हो। फिर भी, राधा-भावकी अधिकता है—

भावनिधि श्रीगौरांग भावेर शावल्य।
सब भाव हइते राधाभावेर प्रावल्य॥

महाभाव-रसराजमूर्ति श्रीगौराङ्गमें विरह-मिलन दोनों धाराएँ एक साथ विद्यमान हैं, निरन्तर विद्यमान हैं। राधाभावावेशमें जब वे यह अनुभव करते कि 'कृष्ण आ गये, उनके साथ हैं, उनके सामने हैं,' तो वे मिलन-सुख भोगते, आनन्दाप्लावित हो जाते। फिर जब वे यह अनुभव करते कि 'कृष्ण चले गये, उन्हें छोड़ गये, नहीं लौटे' तो वे विरह-सागरमें डूब जाते, फूट-फूटकर रोते, अपने शरीरको क्षत-विक्षत कर बैठते। दरअसल, चैतन्य अवतारका प्रधान उद्देश्य था राधाभावका आस्वादन। इस उद्देश्यकी पूर्ति हुई नीलाचल-(जगन्नाथपुरी-) में। राधाभावास्वादनके लिये ही निमाई पण्डित-(चैतन्य महाप्रभु-) ने संन्यास लिया और पुरीमें अठारह वर्षतक 'गम्भीरा' में वास किया। इस अवधिमें वे निरन्तर राधा-भाव-विभावित हुए रहे और उन्होंने अपने मात्र दो अन्तरङ्ग भक्त-स्वरूप-दामोदर एवं राय रामानन्दके साथ निगूढ़ व्रज-रसका

*—श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवास्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥
(विदग्धमाधव १। चैतन्यचरितामृत १।१।५)

आस्वादन किया। वृन्दावन-लीलामें तो श्रीकृष्ण आस्वाद्य थे, राधिका आस्वादिका थीं। नवद्वीप-लीलामें आस्वाद्य और आस्वादक—दोनों ही श्रीकृष्ण हैं। यह है भारतीय अवतारवादकी एक अभूतपूर्व रहस्यात्मक घटना।

कृष्ण-चैतन्यके अवतारका दूसरा प्रमुख उद्देश्य था—प्रेमा-भक्तिका वितरण। वैधी-भक्ति प्रदान करनेका काम श्रीकृष्णकी अन्तरङ्ग शक्तियाँ कर सकती हैं, किंतु प्रेमा-भक्ति वे स्वयं ही दे सकते हैं—यह प्रेमा-भक्ति पहले कभी किसीको नहीं दी गयी, ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ उस प्रेमा-भक्तिको चैतन्यदेवने कृपाकर आ-पामर जनसाधारणको खुलेहाथों लुटायी। अन्यथा वह साधनगम्य कहाँ ? परंतु इस प्रेमाभक्तिका भण्डार तो था राधिकाके पास। इसलिये श्रीकृष्णने सोचा—पहले उस भण्डारसे मैं स्वयं चोरी करूँ। फिर उस दुर्लभ वस्तुका लोगोंमें वितरण करूँ! चुरानेका अर्थ था राधाके हृदयमें जाकर बैठना—राधाकी भाव-कान्ति धारण करना। परिणाम निकला नवद्वीपमें (वर्णभाव चौर) चैतन्य महाप्रभुका प्राकट्य।

श्रीरूपगोस्वामी इस 'चिर अनर्पित'—राधाप्रेम (प्रेमाभक्ति) को उन्नत-उज्ज्वल कहा है और इसे संज्ञा दी है 'स्वभक्ति' की। स्वभक्ति अर्थात् वह प्रेम (भक्ति) जिसके विषय श्रीकृष्ण स्वयं हैं। वे तो विषय हैं और आश्रय हैं राधा। राधासे लेकर ही तो वे उस प्रेमको जन-सामान्यमें बाँटेंगे। श्रीकृष्णने करुणा-कर उस चिर-अनर्पित वस्तुको लुटानेके लिये अपने श्याम-वर्णको राधाके गौरवर्णसे ढककर राधा-भावसे नवद्वीपमें अवतार लिया। रूपगोस्वामीका वह श्लोक इस प्रकार है—

> अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
> समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
> हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
> सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥
> (चैतन्यचरितामृत १। १। २)

दुष्प्राप्य प्रेमा-भक्तिरूपिणी लक्ष्मीका वितरण करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कलियुगमें कृपापूर्वक कृष्णचैतन्यका रूप ग्रहण किया। पर उन्होंने भाव एवं वर्ण श्रीराधाका ग्रहण कर लिया। राधाका गौर वर्ण धारण कर कृष्ण चैतन्य बन गये। गोरे हो गये।

नवद्वीप-लीलामें श्रीकृष्णने राधा बनकर कृष्णका आस्वादन किया, राधा-प्रेम छककर पिया और वे ऊँच-नीच, ज्ञानी-भक्त, ब्राह्मण-शूद्र, भला-बुरा—ये सब भेद-भाव सोच-विचारकर चैतन्यलीलामें समा गये। हरिनामके माध्यमसे खूब प्रेम लुटाया। चैतन्यलीलाके हरिनाम-संकीर्तनमें एक और विशेषता थी। गौराङ्ग-रूपी राधिकाने श्रीकृष्णका-आस्वादन कर जो सुख-आनन्द पाया, उसकी मधुरता नामसंकीर्तनमें उँड़ेल दी। गौराङ्गदेवने हरिनाम-पुष्पोंकी जो माला बनायी, उसे उन्होंने राधाप्रेमके धागेमें पिरोयी और ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरेके गलेमें डाल दी। उनके नित्य-परिकर नित्यानन्दने तो मार खा-खाकर नाम-प्रेम लुटाया। चैतन्यदेवका उदय वस्तुतः विशुद्ध समाजवाद और विश्वबन्धुत्वका उदय है।

> कैछन राधा प्रेमा कैछन मधुरिमा कैछन सुखे तिंह भोर।
> एतिन वांछित धन व्रजे नहिल पूरण कि करब ना पाइया ओर॥
> भाविया देखल मने राधार स्वरूप बिने ए वासना पूर्ण कभू नय।
> राधाभाव कांति धरि राधाप्रेम गुरू करि नदिया ते करल उदय॥

—बलरामदासजीका श्याम बंगला अनुवाद

व्यवहारमें परमार्थकी कला

(परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके एक प्रवचनके आधारपर)

हमारे मनमें यह बात आयी है कि यदि संसारमें रहना आ जाय तो हमारी मुक्ति हो जाय। संसारमें रहना एक विद्या है। उस विद्याको ठीकसे समझ लें और काममें लावें तो बेड़ा पार है। किसी भी काममें लगो, उस कामको करनेकी विद्या आनी चाहिये और उस कामको अच्छी तरह करना चाहिये। जैसे रसोई बनाना है। रसोइयाको रसोई बनाना तो आता है, पर वह ठीकसे रसोई बनाता ही नहीं तो रसोई अच्छी नहीं बनती। दूसरा रसोई बनाता है, पर उसे रसोई बनानी आती नहीं तो रसोई बढ़िया नहीं बनती। इसलिये किसी भी कार्यमें ज्ञान और कर्म—दोनोंकी ही आवश्यकता है।

अब यह समझना है कि संसारमें रहनेकी विद्या क्या है? मान लीजिये कि एक मनुष्य है, जिसके माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्र आदि हैं तो वह उनके साथ केवल उन्हींके हितके लिये व्यवहार करे, केवल उन्हींकी सेवा करे, केवल उन्हींको सुख पहुँचावे। वह अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न रखे। जो अपने सुखकी इच्छा करता है, उसको संसारमें रहनेकी कला आयी ही नहीं। आप अपने कुटुम्बमें रहते हैं तो कुटुम्बकी सेवा करते हैं। यदि आप बाहर चले जाते हैं तो वहाँ सेवा नहीं करते, अपितु स्वयं सेवा लेते हैं। कोई हमें मार्ग बता दे, हमारी सहायता कर दे, हमको रहनेकी जगह दे दे, हमको जल पिला दे, हमें ऐसा कुछ दे दे, जिससे हम अपनी यात्रा ठीक कर लें, इस प्रकार सेवा चाहते रहनेसे हमारा कल्याण नहीं होता, उद्धार नहीं होता।

हम किसीसे कुछ भी चाहते हैं तो पराधीन हो जाते हैं—यह एक पक्का सिद्धान्त है। जब हम किसीसे कुछ नहीं चाहते, तब हम बिल्कुल पराधीन नहीं होते, सर्वथा स्वाधीन बने रहते हैं। संसारसे कुछ भी चाहना अपने-आपको पराधीन बनाना है। संसार हमसे बहुत कुछ चाहता है। यदि हम उसकी चाहना पूरी करते हैं तो हम पराधीन हैं। इसलिये अपनी चाहना तो रखें नहीं और दूसरोंकी न्याययुक्त चाहना अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार पूरी करें। यह है जीनेकी कला।

अब प्रश्न होता है कि जब हम उनसे कुछ भी नहीं चाहते तो फिर उनकी चाहना पूरी क्यों करें। इसका उत्तर यह है कि उनकी चाहना-पूर्ति करनेसे अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य आ जाती है। यदि अपने स्वार्थकी बात ही हम करते रहेंगे तो अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य नष्ट हो जायगी। इसलिये हम दूसरोंकी सेवा-सहायता करते रहें तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे। संसारमें रहकर स्वतन्त्र होना ही संसारसे ऊँचा उठना है और यही मुक्ति है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(गीता ५। १९)

'जिनका मन साम्य अवस्थामें स्थित हो गया है, उन पुरुषोंने यहाँ जीवित अवस्थामें ही (मानो) संसारको जीत लिया।' साम्यावस्था क्या है? अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके मिलनेपर उनमें सुख-दुःखका अनुभव होनेपर भी हर्ष-शोकके अनुभवका न होना। संसारकी कोई भी परिस्थिति हमें डिगा न सके तो हमने विजय प्राप्त कर ली। यदि संसारकी अनुकूलता और प्रतिकूलताने हमपर असर कर दिया तो हम हार गये। यह असर कब नहीं करेगी जब हम संसारमें अपने लिये नहीं रहेंगे अपितु संसारके लिये ही रहेंगे। इस प्रकार रहनेसे संसारसे ऊँचे उठ जायँगे।

*

यदि हमारे माता-पिता हैं तो हम उनकी सेवा करें। उनसे चाहना न रखें। उनका दिया हुआ ही शरीर है, सामर्थ्य है। हमें जो कुछ मिला है, उन लोगोंसे ही मिला है, अतः उन लोगोंके लिये ही काम करना है, अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये नहीं। हमें जिन्होंने शरीर दिया, समझ दी, योग्यता दी, उनकी दी हुई वस्तुके द्वारा केवल उन्हींकी सेवा करनी है अर्थात् उनसे मिली हुई वस्तु उन्हें ही दे देनी है और उन्हें देनेके लिये ही हमें रहना है, अपने लिये नहीं। यदि अपने लिये हम नहीं रहेंगे तो वे हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें अथवा बुरा, उसका हमपर असर नहीं पड़ेगा; क्योंकि हम अपने साथ अच्छे बर्तावके लिये वहाँ रहते ही नहीं हैं। हमें तो उनकी सेवा कैसे हो जाय, उनको सुख कैसे पहुँचे, उनका हित कैसे हो, उनका उद्धार कैसे हो, उनको आराम कैसे पहुँचे—यही भाव रखना है। इस प्रकार करनेसे हम दुःखी हो जायँगे—ऐसा प्रश्न उठ सकता है, परंतु हम दुःखी तभी होंगे, जब उनसे कुछ चाहेंगे और वे नहीं कर देंगे। हम चाहें ही नहीं तो दुःखी कैसे होंगे? हम तो केवल उनके सुखके लिये रहते हैं। उनको सुख पहुँचाना ही हमारा काम है।

प्रश्न—हम जिनकी सेवा करें, वे यदि हमें दुःख पहुँचायें तो हम क्या करें?

उत्तर—वे दुःख पहुँचायें तो हमारा बहुत शीघ्र कल्याण हो जाय। हम सेवा करते हैं और यदि वे दुःख देंगे तो दुःख देनेसे हमारे पापोंका नाश हो जायगा और पापोंका नाश हो जानेसे अन्तःकरण निर्मल हो जायगा। सेवा करनेसे त्याग होगा। हमको दुगुना लाभ होगा। उनको सुख कैसे पहुँचे—इसके लिये ही संसारमें रहना है। यही हमारा कर्तव्य है। चाहना हमारा कर्तव्य नहीं है। हमारा कर्तव्य तो उनकी चाहना पूरी करना है। उनकी चाहना पूरी करनेमें दो बातोंका ध्यान रखना है। एक तो उनकी चाहना अन्याययुक्त तो नहीं है अर्थात् चाहना न्याययुक्त हो, दूसरे—हमारी सामर्थ्यके बाहरकी बात तो नहीं है, यदि सामर्थ्यके बाहर हो तो हाथ जोड़कर उनसे क्षमा माँग लें कि 'भाई! हम तो समर्थ नहीं हैं, हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है, इसलिये आप क्षमा करें।' यदि सामर्थ्य हो तो उनकी चाह पूरी कर दें।

इस प्रकार संसारमें जलमें कमलके पत्तेकी भाँति रहे। कमलका पत्ता जलमें रहते हुए जलसे भीगता नहीं। मोतीकी तरह ऊपर लुढ़कता रहता है, उसमें भेदन नहीं होता। जैसे कपड़ा भीग जाता है, ऐसे वह भीगता नहीं। ऐसे ही हम अपने लिये न रहकर केवल सेवाके लिये रहें तो हम भीगते नहीं अर्थात् संसारमें फँसते नहीं। केवल उनके लिये ही रहें, अपने लिये रहें ही नहीं, अपने लिये कुछ भी न चाहें।

प्रश्न—कहते हैं कि कमलके पत्तेको जीवन (पानी) तो जलाशयमें ही मिलता है?

उत्तर—आपके शरीरका निर्वाह भी समष्टिसे ही होगा, परंतु केवल सेवा करनेके लिये निर्वाहमात्र लेना चाहिये। हमारी क्रियाएँ हमारे लिये न हों। उनसे मिली हुई वस्तु उनको ही देते रहें। हम लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दें। इस प्रकार सेवा करनेसे पुराना ऋण उतर जाता है और आगे नहीं चाहेंगे तो नया ऋण उत्पन्न नहीं होता है। उनकी सेवा नहीं करेंगे तो उनका ऋण हमारेपर रहेगा और उनसे चाहते रहेंगे तो नया ऋण हमपर चढ़ता रहेगा। अतः चाहना नहीं करनी चाहिये।

कोई मनुष्य मर जाता है, तो उसकी मृत्युपर दुःख होता है। उस दुःखमें दो कारण होते हैं— एक तो उससे सुख लिया है, पर सुख दिया नहीं है और दूसरा फिर सुख लेनेकी आशा रही है। तब उसके मरनेसे दुःख होता है। यदि हमने उससे सुख न लिया होता तो उसके मरनेसे दुःख नहीं होता। जो हमसे अपरिचित है, जिसका हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वह मरता है तो उसके मरनेका हमें दुःख नहीं होता। आगे सुख लेनेकी आशा न रहे, तो भी दुःख नहीं होता। जैसे नब्बे या सौ वर्षोंका बहुत बूढ़ा आदमी मर जाय तो उसकी मृत्युका दुःख नहीं होता। लोग तो यहाँतक कहते हैं कि उसका मरण विवाह-जैसी बात है, बड़े आनन्दकी बात है! कारण क्या है? अब उससे सुखकी कोई आशा नहीं रही। किसी तरह वह हमारी सेवा करेगा, हमारा हित करेगा, ऐसी आशा नहीं रही। इसलिये दुःख नहीं होता। जवान—बीस-पच्चीस वर्षकी आयुका व्यक्ति मर जाता है तो दुःख होता है; क्योंकि उससे आशा बाँध रखी है कि सुख मिलेगा। आशा ही दुःखोंका कारण होता है—'**आशा हि परमं दुःखम्**'—दुःखोंका मुख्य कारण आशा है और नैराश्य—अनपेक्षा परम सुख है—'**नैराश्यं परमं सुखम्।**' दुःख और सुख दोनोंके साथ '**परम**' शब्द दिया है। तात्पर्य यह कि उससे आशा न रखकर उसकी आशा पूरी करनेका उद्योग करें। उससे आशा न रखनेसे उसकी मृत्युका दुःख नहीं होता। पच्चीस वर्षका जवान मरता है तो दुःख होता है; क्योंकि उससे आशा रहती है। उससे भी आशा न रहे तो दुःख नहीं होता। मानो वह पंद्रह वर्षकी अवस्थासे बीमार हुआ और पच्चीस वर्षका हो गया। वैद्यों-डाक्टरोंने जवाब दे दिया कि यह अब जी नहीं सकता, यह तो अब मरेगा। हमने दस वर्ष उसकी सेवा कर दी, लिया कुछ नहीं और लेना कुछ है नहीं तो उसके मरनेपर दुःख नहीं होगा। इसलिये दुःख उसके मरनेका नहीं है, वियोगका नहीं है, दुःख तो उससे सुख चाहते हैं, इस बातका है। यहाँ चाहना ही दुःख बन जाती है।

संसारमें हम रहें, संसारसे हम सुख न चाहें और सुख देते रहें, सेवा करते रहें। सेवा लेनेकी चाहना बिल्कुल भीतरसे उठा दें तो संसारमें हमको रहना आ गया और हम मुक्त हो गये। लेनेकी इच्छा ही बन्धन है। उल्टी बुद्धि हो गयी कि हमें सेवा मिल जाय तो हम सुखी हो जायँगे। कोई हमारी सेवा करेगा तो हम सुखी हो जायँगे। यहाँ बुद्धिकी विपरीतता यह है कि सेवा लेंगे तो ऋणी हो जायँगे, सुखी कैसे होंगे! ऋण चढ़ जायगा! ऋणी आदमीकी मुक्ति नहीं होती। ऋणी तो तभी मुक्त होगा, जब ऋणदाता उसे क्षमा कर दे। संसारके ऋणी रहते हैं, तबतक मुक्ति नहीं होती। इसलिये इस संसारसे उऋण हो जायँ। सेवा ली है तो बदला चुका दें। हमसे वे जो सेवा चाहते हैं, उनकी वह सेवा कर दें।

प्रश्न—कहते हैं, ऐसा करनेसे वे सेवा लेनेवाले ऋणी हो जायँगे?

उत्तर—उनके ऋणी होनेसे हम बन्धनमें नहीं पड़ेंगे।

कोई दूकानदार भाई अपनी दूकान उठाना चाहता है तो वह ऐसा करे कि जो दूसरोंसे लिया है, वह दे दे और उसने जिसको दिया है, वह यदि वापस दे दे तो ठीक है, नहीं दे तो छोड़ दे, तब तो दूकान उठ जायगी। वह पूरा-का-पूरा दिया हुआ वापस लेना चाहेगा, तब तो दूकान कभी उठेगी ही नहीं; क्योंकि पुराना लेनेके लिये कुछ नया माल देना पड़ेगा। फिर उसमें हमारा बाकी

बना ही रहेगा। इस प्रकार पूरा लेकर कभी भी उठा नहीं सकते। ऐसे ही संसारसे पूरा लेकर उऋण नहीं हो सकते। लेनेका खाता ही उठा दें, तब देना ही देना रहेगा। इस कारण सबको दें।

माता-पिताको देना है, भाई-भौजाईको भी देना है, स्त्री-पुत्रको भी देना है। बहिनोंके लिये उनके पति और पुत्र-पुत्रियोंको देना है। सास-ससुरको भी देना है। देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी सबकी सेवा करनी है। इनसे लेना है ही नहीं। लिया कि फँसे! जहाँ लेनेकी इच्छा हुई कि फँसे। एक ग्रामीण कहावत है—'गरज गधे न बाप करे'। गधेपर माल लादकर चलाते हैं तो उसको कहते हैं—'बापो-बापो चालो सा!' गरज-वाला आदमी मुक्त नहीं हो सकता। गधेको बाप बनाना पड़े, बताओ कितना नीचे उतरना पड़ा है। परंतु उससे काम लेना है, इसलिये इतना नीचे उतरना पड़ा और लेना ही नहीं हो तो हम स्वतन्त्र हैं, विजयी हैं।

आपको एक विचित्र बात बतावें! ध्यान दें! भगवान्के हम भक्त हो सकते हैं। भक्त तो होते हैं, पर गुलाम नहीं होते; क्योंकि लेना नहीं है भगवान्से भी! उनसे लेना नहीं रहता, तभी वे कहते हैं—'मैं हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणि!' कब? जब कि लेना नहीं चाहते। चारों प्रकारके भक्त उदार हैं, पर ज्ञानी—निष्काम भक्त तो भगवान्का आत्मा ही है। वह अत्यन्त प्यारा भक्त है। निष्काम ज्ञानी भक्तको भगवान् अत्यन्त प्यारे हैं, कारण कि वह उनसे कुछ नहीं चाहता। आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु तो कुछ-न-कुछ चाहते हैं। वे चाहते हैं तो भगवान्के यहाँ घाटा थोड़े ही है। वे धन भी दे सकते हैं, दुःख भी दूर कर सकते हैं, तत्त्वज्ञान भी दे सकते हैं। उनमें देनेकी सामर्थ्य तो पूरी है, परंतु उन चाहनेवाले भक्तोंका पद कम हो जाता है।

भगवान् कहते हैं कि मैं तो देता रहूँ—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्।** (गीता ९।२२)' परंतु तुम चाहो नहीं—**'निर्योगक्षेम आत्मवान् भव'** (गीता २।४५) अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा मैं स्वयं करूँगा, परंतु तू चाहना मत कर। कितनी बढ़िया बात कही! न चाहनेसे प्रेम होगा। किसीसे भी चाह लो तो प्रेम नहीं होगा। आपसमें चाहनेसे बन्धन होगा। वह इससे चाहता है, यह उससे चाहता है तो आपसमें प्रेम नहीं होगा। दोनों आपसमें चाहते हैं, दो ठगोंमें ठगाई नहीं होती। दोनों ही ठग! दोनों ही भोगी। वह इससे चाहे, यह उससे चाहे तो फँसेंगे दोनों ही। संसारसे चाहना मानो ठगाईमें फँसना है। इसलिये चाहनाका त्याग करके सेवा करनी है। यह संसारमें रहनेकी असली विद्या है। यही है व्यवहारमें परमार्थकी कला। यही है जीवनकी कल्याणकारी कला।

आप भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि अपने घरोंमें ऐसे रहो, जैसे कोई सज्जन पथिक रात्रिभर आकर रहता है। वह कहता है, तुम सब भोजन कर लो, उसमेंसे जो बचेगा वह मैं पा लूँगा। तुम सब अपनी-अपनी जगहमें रह जाओ, फालतू जगहमें मैं रह जाऊँगा। कपड़ा-लत्ता जो आपके कामके हों, उन्हें आप अपने काममें ले लो, फालतूसे मैं अपना निर्वाह कर लूँगा। रात्रिमें आग लग जाय, चोर आ जाय, डाकू आ जाय, संकट आ जाय, बीमारी आ जाय तो वह सबसे आगे होकर सामना करता है; क्योंकि वह सोचता है कि हमने इनका अन्न-जल लिया है, विश्राम लिया है; इसलिये इनकी सेवा करना हमारा काम है। काम तो करे सबसे ज्यादा, पर ले कुछ नहीं तो वह पथिक बँधता नहीं। लेनेकी इच्छा रखता है तो फँस जाता है। इसलिये भाई! सेवा करनी है। थोड़ा अन्न-जल लेना है, वह भी शरीर-निर्वाहके लिये; क्योंकि शरीर-निर्वाह न होनेसे सेवा कैसे बनेगी?

इसलिये सेवा करनेके लिये अन्न-जल लेना है। संसारसे अन्न, जल, वस्त्र लेना है, केवल सेवा करनेके लिये, अपने भोग-आरामके लिये नहीं।

हमारे एक वृद्ध सन्त कहते थे कि संसारमें रबड़की दड़ी (गेंद) की तरह रहना चाहिये। वह फुदकती रहती है, कहीं चिपकती नहीं। मिट्टीका लोंदा नहीं बनना है कि जहाँ जाय, वहीं चिपक जाय। यह संसारमें रहनेकी असली विद्या है और व्यवहारमें परमार्थकी अद्भुत कला है। इस प्रकार संसारमें रहनेसे बन्धन नहीं हो सकता। उसकी मुक्ति स्वतः सिद्ध है। (मुक्ति ही परम कल्याण है)।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

श्रीमद्भागवतके उद्देश्य और उसकी महिमा

[पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराजके काशी (ज्ञानवापी-प्राङ्गण)में हुए प्रवचनका सारांश]

(२)

भक्ति केवल मन्दिरमें नहीं, अपितु जहाँ भी बैठ जाइये वहीं हो सकती है। इसके लिये किसी देश या कालका नियम नहीं है। यह तो चौबीसों घंटे करनी चाहिये। जो कालादिका भेद रखता है, वह भक्ति नहीं कर सकता। भक्ति सतत करो, निरन्तर करो। चौबीसों घंटे ब्रह्मसम्बन्ध बनाये रखो। हमेशा ध्यान रखो, सदा सावधान रहो कि मायाके साथ सम्बन्ध न हो जाय। यह भागवतका संकेत है।

जब वसुदेवजीने श्रीकृष्णको मस्तकपर रखा, तब उनका ब्रह्मसम्बन्ध हुआ, जिससे उनके हाथ-पैरकी बेड़ियाँ टूट गयीं; परंतु योगमायाको लेकर जब वापस पहुँचे तो फिर बन्धनमें पड़ गये। वसुदेवजीका ब्रह्मसम्बन्ध तो हुआ, परंतु वे इसको टिकाये न रख सके। ब्रह्म-सम्बन्धको टिकाये रखना चाहिये। ईश्वरका स्मरण छोड़ना नहीं चाहिये। भक्त भगवान्के साथ खेलते हैं। जीव जो क्रिया करता है, (जब वह उसे) ईश्वरके लिये करता है तो उसकी प्रत्येक क्रिया भक्ति बन जाती है। मनके साथ भक्तिका विशेष सम्बन्ध है। जिससे मनसे भक्ति नहीं होती, उसे तनसे सेवा करनेकी आवश्यकता है। मानसिक सेवा श्रेष्ठ है। साधु-संत तो मानसिक सेवामें ही तन्मय रहते हैं। यदि ऐसी सेवा-तन्मयता हो जाये तो जीव कृतार्थ हो जाता है। भक्तिमार्गकी आचार्या गोपियाँ हैं। उनका आदर्श मन और आँखोंके सामने रखो। ज्ञानमार्गसे, योगमार्गसे जिस ईश्वरके आनन्दका अनुभव होता है, उसी आनन्दका अनुभव इस भक्तिसे सहज प्राप्त होता है। ज्ञानी योगियोंको जो ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है, वही इस साधारण जीवात्माको भी प्राप्त हो, ऐसे उद्देश्यसे श्रीभागवतकी रचना की गयी है। इसमें तो भगवान्का स्वरूप बताया गया है। भगवान् कैसे हैं? इसका विवेचन किया गया है और उनमें लीन होनेका सरल उपाय बताया गया है—

तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः।

परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—तीनों प्रकारके तापोंको नाश करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी हम वन्दना करते हैं। दुःख मनका धर्म है, आत्माका नहीं। मनुष्य दुःखमें ईश्वरका स्मरण करता है, जिससे उसका परमात्माके साथ अनुसम्बन्ध होता है और तब उसे आनन्द मिलता है। जीवका स्वभाव सुन्दर नहीं है। हो सकता है कि परमात्माका भी शरीर कभी सुन्दर न रहा हो। कूर्म-अवतार, वाराह-अवतारके शरीर सुन्दर नहीं थे। परंतु श्रीपरमात्माका स्वभाव सुन्दर, अतिशय सुन्दर है। दूसरोंके दुःख दूर करनेका परमात्माका स्वभाव है। इसीलिये तो श्रीभगवान् वन्दनीय हैं। उनके वन्दनसे तीनों तापोंका विनाश होता है।

बहुत लोग पूछते हैं कि वन्दना करनेसे क्या लाभ है? वन्दना करनेसे पाप जलते हैं। श्रीराधा-कृष्णकी वन्दना करेंगे तो आपके सारे ताप नष्ट होंगे। परंतु वन्दना अकेले शरीरसे नहीं, मनसे भी करो, अर्थात् श्रीराधाकृष्णको हृदयमें पधराओ, स्थापित करो और उनको प्रेमसे नमन करो। नमन प्रभुको बन्धनमें डालता है। दुःखमें जो साथ दे वह ईश्वर है और सुखमें जो साथ दे वह जीव है। प्रभु (ईश्वर) सर्वदा दुःखमें ही साथ देते हैं। अतः प्रभु (ईश्वर) वन्दनीय हैं।

ईश्वरने जिस-जिसको सहायता दी है, उस-उसको दुःखमें ही सहायता दी है। पाण्डव जबतक दुःखमें थे, तबतक श्रीकृष्णने उनकी मदद की। पर पाण्डव जब सिंहासनपर बैठे, तब श्रीकृष्ण भी वहाँसे चले गये। ईश्वर जिसे भी मिले हैं, दुःखमें ही मिले हैं। सुखका साथी जीव है और दुःखका साथी ईश्वर हैं। इस बातका सतत मनन करो। मनुष्य धन पानेके लिये जितना प्रयत्न करता है (और दुःख सहन करता है) उससे कहीं कम प्रयत्न यदि ईश्वरके लिये भी करे तो उसे ईश्वर अवश्य मिलेंगे। कन्हैया तो बिना बुलाये गोपियोंके घर जाता था, परंतु वह मेरे घर क्यों नहीं आता है—ऐसा कभी विचार भी किया है? आप भी निश्चय कीजिये कि मैं भी ऐसे सत्कर्म करूँगा कि कन्हैया मेरे घर भी आयेगा। श्रीभगवान्‌के आगे हाथ जोड़ने, मस्तक झुकानेका क्या अर्थ है? हाथ क्रियाशक्तिका प्रतीक है। हाथ जोड़नेका अर्थ है कि मैं अपने इन हाथोंसे सत्कर्म करूँगा। मस्तक झुकानेका अर्थ है—मैं अपनी बुद्धि-शक्तिको, हे नाथ! आपको अर्पित करता हूँ। वन्दना करनेका अर्थ है—अपनी क्रियाशक्ति और बुद्धिशक्ति श्रीभगवान्‌को अर्पित करना। श्रीभगवान्‌का वन्दन करनेसे पाप-तापका नाश होता है। निर्भय होना हो तो प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना करो। हमारे भगवान् दयाके सागर हैं। केवल वाणी और शरीरसे नहीं, परंतु हृदयसे भी वन्दना करो। हृदयसे वन्दना करनेसे श्रीभगवान्‌के साथ ब्रह्मसम्बन्ध होता है।

जब भी घरसे बाहर निकलो, श्रीठाकुरजीकी वन्दना करके ही निकलो। उनका पवित्र नाम लेकर निकलो, नारायण, नारायण, नारायण करते निकलो।

ईश्वर प्रेम चाहते हैं और प्रेम ही देते हैं। ईश्वर यही मानते हैं कि यह मेरा है और मुझसे भीख माँगता है। वन्दना करनेसे ईश्वरके साथ सम्बन्ध होता है। इस जीवका स्वभाव ऐसा है कि वह वन्दना नहीं करता है। बाहरसे घरमें आओ तो उस समय भी ईश्वरकी वन्दना करो। मार्गमें चलते हुए भी वन्दना करो। परमात्मा श्रीकृष्णकी आरम्भमें वन्दना करे, प्रेमसे परमात्माको प्रणाम करे, तो उसपर श्रीपरमात्मा प्रसन्न होते हैं। जीव चाहे और कुछ न करे, इतना तो करे ही कि श्रीपरमात्माका बार-बार वन्दन करे।' वन्दना सद्भावसे करो। प्रभुके हमपर अनन्त उपकार हैं। श्रीपरमात्माने हमारे अनन्त उपकार किये हैं। बोलने और खानेको जीभ दी है। देखनेके लिये आँखें दी हैं। सुननेके लिये कान दिये हैं। विचार करनेके लिये मन दिया है। बुद्धि और विचारशक्ति भी परमात्माने ही दी है। ईश्वरके उपकारोंको याद करो, याद रखो और कहो कि 'हे भगवन्! मैं आपका ऋणी हूँ।' ऐसी उत्तम भावनाके साथ वन्दना करो, कहो कि 'मेरे परमात्मन्! आपने मुझपर कृपा की है। आपकी कृपासे मैं सुखी हूँ। मेरे पाप तो अनन्त हैं, परंतु हे नाथ! आपकी कृपा भी अनन्त है। आपकी कृपाका पार किसे लगा!' उत्तम भावपूर्वक की गयी वन्दना अवश्य सफल होती है।

विचार करो कि प्रभुने मुझे जो कुछ दिया है, क्या मैं उसके योग्य हूँ। नाथ! मैं तो योग्य नहीं हूँ, मैं तो पापी हूँ, फिर भी श्रीठाकुरजीने मुझे जगत्‌में सम्पत्ति और प्रतिष्ठा दी है। नाथ! आपके उपकार अनन्त हैं। स्वामिन्! मैं इसका बदला नहीं चुका सकूँगा। मैं तो आपकी केवल वन्दना ही करता हूँ। वन्दना करनेसे अभिमानका भार कम होता है। इसीलिये श्रीभागवतका आरम्भ भी वन्दनासे किया गया है और वन्दनासे ही समाप्ति भी की गयी है—

तं नमामि हरिं परम्।

अकेले श्रीकृष्णकी वन्दना नहीं की है, अपितु कहा है—'श्रीकृष्णाय राधाकृष्णाय वयं नुमः।' श्रीजीका अर्थ है राधाजी। श्रीराधाजीके साथ विराजमान श्रीठाकुरजीकी मैं वन्दना करता हूँ। परमात्माकी वन्दना कर लेनेके बाद श्रीमद्भागवतके वक्ता श्रीशुकदेवजीकी वन्दना की गयी है।

पढ़ने और विचारनेकी अपेक्षा जीवनमें आचरण अधिक श्रेष्ठ है।

वेदोंका अन्त और पुराणोंका पार नहीं है। मनुष्य-जीवन लघु है और शास्त्र अनन्त हैं; परंतु उस एकको अर्थात् ईश्वरको जान लोगे तो सब कुछ जान जाओगे। कलियुगका मनुष्य कम समयमें भी श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। यह श्रीमद्भागवतमें बताया है। फिर भी मनुष्य प्रमाद करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—सात ही दिनोंमें राजा परीक्षित्‌ने सद्गति प्राप्त की थी, यह मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। परीक्षित्‌जीका उद्धार हुआ, फिर हम सबका उद्धार क्यों नहीं होता है? हमें परीक्षित्-जैसे श्रोता होना चाहिये। वक्ता भी श्रीशुकदेवजी-जैसा बने तो उद्धार हो जाय। हम सब परीक्षित् ही हैं। गर्भमें जिसने मेरी रक्षा की, वह चतुर्भुज

स्वरूपवाला पुरुष कहाँ है ? कहाँ है ऐसा कहते-कहते ईश्वरकी खोजमें निकला यह जीव परीक्षित् ? परीक्षित् अर्थात् श्रीभगवान्‌के दर्शन करनेके लिये आतुर हुआ जीव । परीक्षित्‌जीकी आतुरताका एक कारण था । उन्हें मालूम हो गया था कि सात दिनोंमें (सातवें दिन) मेरी मृत्यु होनेवाली है । तक्षक नाग मुझे डँसनेवाला है । जीवमात्रको तक्षक नाग डँसनेवाला है । तक्षक कालका स्वरूप है, ऐसा श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें कहा गया है। कालरूपी तक्षक किसीको नहीं छोड़ता । वह सातवें दिन डँसता ही है । सप्ताहके कुल सात दिन हैं । इन सात दिनों (वारों) मेंसे किसी एक वार (दिन) को काल-सर्प अवश्य डँसेगा । इन सात वारोंमेंसे कोई एक वार हमारे लिये भी निश्चित तो है ही तो फिर परीक्षित्‌जीकी तरह कालको मत भूलो । कोई भी जीव क्यों न हो, उसे कालका भय तो लगता ही है । मृत्युका भय केवल मनुष्यको है, ऐसा नहीं है । ब्रह्माजीको भी कालका भय लगता है । कालभय कैसे छूटे ?

श्रीभागवत-शास्त्र मनुष्यको निर्भय बनाता है । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि ध्रुवजी मृत्युके सिरपर पाँव रखकर स्वर्गमें चले गये थे । राजा परीक्षित् कथाकी समाप्तिमें बोले कि मुझे अब कालका भय नहीं रहा ! श्रीमद्भागवत सुनकर परमात्माके साथ प्रेम हो जानेपर मनुष्यको कालका भय नहीं लगता है । जो श्रीमद्भागवतका आश्रय लेते हैं, वे निर्भय बनते हैं ।

लोग मृत्युको अमङ्गल मानते हैं,परंतु मृत्यु अमङ्गल नहीं है । मृत्यु (काल) परमात्माकी सेविका है । श्रीठाकुरजीको जब ऐसा लगता है कि मेरा बालक अब योग्य बना है तो वे मृत्युको आज्ञा देते हैं कि उस जीवको पकड़कर ले आओ । जिसे पाप करनेका विचार भी नहीं आता है, उसकी मृत्यु मङ्गलमय होती है । जीवनमें मनुष्य मृत्युका सच्चा भय नहीं रखता है, इसीसे उसका जीवन भी बिगड़ता है और मरण भी ! अन्तकालमें मनुष्यको जो घबराहट होती है वह कालके डरसे नहीं, किंतु अपने किये हुए पापोंकी यादसे होती है । पाप करते समय तो मनुष्य डरता नहीं है, डरता है तब जब कि पापोंकी सजा भुगतनेका समय आता है । व्यवहारमें लोग एक-दूसरेका भय रखते हैं । मुनीम सेठका भय रखता है, कारकून अधिकारीका, आदि । पर मनुष्य किसी भी दिन ईश्वरका भय नहीं रखता, इसीलिये वह दुःखी होता है ।

भागवत मनुष्यको निर्भय बनाता है । श्रीभागवतका आश्रय लेनेसे निर्भयता प्राप्त होती है । मैं अपने परमात्मा श्रीकृष्णका अंश हूँ, मैं भगवान्‌का हूँ । जब आप परमात्माको हमेशा साथ ही रखकर फिरेंगे तो आप निर्भय बन जायँगे । पर भयके बिना प्रभुमें प्रीति होती ही नहीं । अतः कालका भय रखो । कालके—मृत्युके भयसे प्रभुमें प्रीति होती है । अतः कालकी, पापकी, धर्मकी भीति रखो । मनुष्य यदि सदा कालका भय रखे तो उससे पाप नहीं होगा । निर्भय होना हो तो पाप छोड़ दो । श्रीभागवत-शास्त्र हमें निर्भय बनाता है । मनुष्यको और किसीका भय चाहे न लगता हो, फिर भी कालका भय तो इसे लगा ही रहता है । कामका नाश करके जो भक्ति और प्रेममय जीवन जीता है, वह कालपर भी विजय पाता है । कालको जो मारता है, वह कालकी मार नहीं खाता । कामकी, कालकी मारसे छूटना हो तो परमात्माके साथ अतिशय प्रेम करना होगा । ईश्वरसे प्रेम किये बिना ये काम, क्रोध आदि विकार नहीं जाते । परमात्माके साथ प्रेम करेंगे तो कालका भय लगेगा ही नहीं । ध्रुवजी मृत्युके सिरपर पाँव रखकर वैकुण्ठ धाममें चले गये । काल ही तक्षक नागका स्वरूप है । काल-तक्षक किसीको नहीं छोड़ता । किसीपर भी इस कालको दया नहीं आती । जब जन्म होता है उसी समय ही मृत्युकाल और मृत्युकारण निश्चित हो जाते हैं । अतः इसी जन्ममें ही इस कालपर विजय प्राप्त करो ।

पाप करनेमें मनुष्य जितना परायण, तत्पर रहता है, उतना पुण्य करनेमें नहीं । पाप प्रकट हो गया तो जगत्‌में अप्रतिष्ठा होगी, ऐसा सोचकर पापको वह एकाग्रचित्त—सावधान होकर होशियारीसे करता है । इसी कारण अन्तकालमें उसे पापोंकी याद आती है । इसीसे अन्तकालमें जी घबराता है । अपने किये हुए पाप उसे प्रत्यक्ष दीखते हैं । वह समझता है कि मैंने मरनेकी तो कोई तैयारी की नहीं । मेरा अब क्या होगा ? मनुष्य और तो सभी कामोंके लिये तैयारी करता है, परंतु मरनेकी तैयारी नहीं करता । जिस प्रकार शादीकी तैयारी करते हो, उसी प्रकार (खुशीसे) धीरे-धीरे मरनेकी भी तैयारी करो । कबीर

कहते हैं—'जा मरनेसे जग डरे, मोहि परम आनंद ।' मौतके लिये सदा सावधान रहो । मृत्यु परमात्माको बीते हुए जीवनका हिसाब देनेका पवित्र दिन है । श्रीभगवान् पूछेंगे—मैंने तुम्हें आँखें दी थीं, तुमने उनसे क्या किया ? कान दिये थे, तुमने उनका क्या उपयोग किया ? तुम्हें तन और मन दिये थे तो उनका तुमने क्या किया ? इस हिसाबमें जो गड़बड़ होगी तो घबराहट होगी ही । साधारण इन्कमटैक्स आफिसरको हिसाब देना होता है तो भी मनुष्यको घबराहट होती है और वह ठाकुरजीसे प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! मैंने तो अलग-अलग बही बना रखी है, परंतु तुम मेरा ध्यान रखना । एक वर्षके हिसाब देनेमें इतनी घबराहट होती है तो फिर सारे जीवनका हिसाब देते समय क्या दशा होगी ! प्रभुने हमें जो दिया है उसका हिसाब देना ही पड़ेगा । उनकी कचहरीमें खड़ा होकर बयान सफाई देनी ही होगी । कबीरदास कहते हैं—'समझि परी थे यारो जाके कचहरियामें' कि हमने ऐसा किया तो ऐसा फल मिलेगा ही ।

मृत्युको उज्ज्वल करना हो तो प्रतिक्षणको उजागर करो । आँखोंका सदुपयोग करो, धनका सदुपयोग करो, वाणीका सदुपयोग करो, इससे मृत्यु उज्ज्वल होगी । प्रतिक्षण जो ईश्वरका स्मरण करता है, उसीकी मृत्यु सुधरती है । श्रीभागवत मृत्यु सुधारता है । प्रतिदिन श्मशानमें जानेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु प्रतिदिन उसे याद करनेकी आवश्यकता है । श्रीशंकर श्मशानमें विराजते हैं । वे ज्ञानके देवता होनेसे श्मशानमें विराजते हैं । श्मशानमें समभाव जागते हैं, अतः ज्ञान प्रकट होता है । इसीलिये श्मशान ज्ञानभूमि है । जहाँ समभाव जागे उसीका नाम श्मशान । समभावका अर्थ है असम भावका अभाव । समभाव ही ईश्वरभाव है । मनुष्य सबमें समभाव रखकर व्यवहार करे तो उसका मरण सुधरता है । सबमें ईश्वरभाव (समभाव) जागे तो जीव दीन बने, दैन्यभाव आये । परमात्माको प्रसन्न करनेका साधन भी दैन्य (भाव) ही है । मनुष्यको अमर होना है । श्रीमद्भागवतकी कथा अमर है । अमरकी कथाका जो आश्रय लेता है, वह अमर हो जाता है । राजा परीक्षित् और शुकदेवजी अमर हैं । श्रीभागवतकी कथा आपको अमर बनाती है और भक्तिरसका दान करती है । भक्तिसे ही मीराबाई द्वारकाधीशमें और गौराङ्ग प्रभु जगदीशमें सदेह समा गये; अमर हो गये । उनकी कथा भी अमर हो गयी । श्रीभागवतकी कथा सुननेसे अनायास ही समाधि लग जाती है । योग और तपके बिना ही श्रीभगवान्से मिलनेका कोई साधन है तो वह भागवत शास्त्र ही है ।

भागवतके भगवान् इतने सरल हैं कि वे सबके साथ बात करनेको तैयार हैं, जब कि अन्यत्र वे किसी अधिकारीके साथ ही बोलते हैं । भागवतशास्त्र मनुष्यको निःसंशय बनाता है । इसकी कथामें सब आ जाता है—बुद्धिका परिपाक, ज्ञानका परिपाक, जीवनका परिपाक आदि । यह सब हो जानेपर भगवान् व्यासजीने इस ग्रन्थकी रचना की थी । भगवान्के नामका जप करते हुए प्रेमसे इस कथाका श्रवण करो । तुम निःसंशय हो जाओगे । भागवत नारायणस्वरूप है, उन्हींके समान परिपूर्ण है । इसके श्रवणसे आस्तिकको मार्गदर्शन मिलेगा और नास्तिक आस्तिक बनेगा । शुकदेवजी-जैसे आत्माराम मुनिने सर्वस्व छोड़ दिया, परंतु वे भी इस कथाको नहीं छोड़ सके । आत्मारामकोटिके महात्मा भी इस श्रीकृष्ण-कथामें मस्त बने हैं, पागल बने हैं । सिद्ध, आस्तिक, नास्तिक, पामर प्रत्येकको यह कथा अवदात जीवनका दान करती है, पवित्र जीवन देती है । व्यवहारका ज्ञान भी भागवतमें भरा पड़ा है । भागवतमें ज्ञानयोग, कर्मयोग, समाजधर्म, स्त्रीधर्म, आपद्धर्म, राजनीति आदिका ज्ञान भरा है । यह एक ऐसा शास्त्र है कि जिसके श्रवण और मनन करनेपर कुछ जानने-जैसा शेष रहता ही नहीं है—'ज्ञातव्यं नावशिष्यते ।' साधकको साधनमार्गमें कैसे-कैसे संशय आते हैं, इन सबका विचार करके व्यास भगवान्ने यह कथा रची है । भागवत-शास्त्र यह परिपूर्ण नारायणका स्वरूप है । यह अतिशय दिव्य है । इसकी महिमा अद्वितीय है । इसका पठन-श्रवण मङ्गलकारी है, कल्याणप्रद है ।

भक्तके लक्षण

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान्‌के भक्तोंका बड़ा महत्त्व है। वे जगत्‌के लिये आदर्श होते हैं; क्योंकि भगवद्भक्तिके प्रतापसे उनमें दुर्लभ दैवी गुण अनिवार्यरूपसे प्रकट हो जाते हैं, जो उनके स्वाभाविक लक्षण होते हैं। भक्तका स्वरूप जाननेके लिये उन लक्षणोंका जानना आवश्यक है। उनमेंसे कुछ ये हैं—

१—भक्त अज्ञानी नहीं होता, वह भगवान्‌के प्रभाव, गुण और रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला होता है। प्रेमके लिये ज्ञानकी बड़ी आवश्यकता है। किसीको किसी अंशमें भी जाने बिना उससे प्रेम नहीं हो सकता और प्रेम होनेपर ही उसका गुह्यतम यथार्थ रहस्य जाना जाता है। भक्त भगवान्‌के गुह्यतम रहस्यको जानता है, इसीलिये भगवान्‌के प्रति उसका प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। भगवान् रससार हैं। उपनिषदें भगवान्‌को 'रसो वै सः' कहती हैं। इस प्रेममें भी द्वैत नहीं भासता। प्रेमकी प्रबलतासे ही राधाजी श्रीकृष्ण बन जाती हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधाजी। कबीर साहब कहते हैं—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नायँ।
प्रेम-गली अति साँकरी, यामें दो न समायँ॥

वस्तुतः ज्ञानी और भक्तकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं होता। भेद इतना ही है, ज्ञानी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहता है और भक्त 'वासुदेवः सर्वमिति'। अथवा गोसाईंजीकी भाषामें वह कहता है—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

२—भगवान्‌का भक्त निर्भय होता है। वह जानता है कि समस्त विश्वके स्वामी, यमराजका भी शासन करनेवाले भगवान् श्यामसुन्दर हर घड़ी मेरे साथ हैं, मेरे रक्षक हैं। फिर उसे डर किस बातका हो? भगवान्‌की शरण जिसने ले ली, वही निर्भय हो गया। लङ्कामें रावणके द्वारा अपमानित होकर जब विभीषण नाना प्रकारके मनोरथ करते हुए भगवान्‌की शरणमें आये, तब उन्हें द्वारपर खड़े रखकर सुग्रीव इस बातकी सूचना देने भगवान् श्रीरामके पास गये। श्रीरामने सुग्रीवजीसे पूछा, क्या करना चाहिये? उन्होंने उत्तर दिया—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

समीप ही बैठे हुए भक्तराज हनुमान्‌ने मन-ही-मन सोचा, सुग्रीव क्या कह गये। अरे, जिसका नाम भूलसे निकल जानेपर मनुष्य संसारके बन्धनसे छूट जाता है, उस मेरे रामके चरणोंमें आनेवालेके लिये बन्धनकी बात कैसी? परंतु स्वामी और सेनापतिके बीचमें बोलना अनुचित समझकर हनुमान् चुप रहे।

शरणागत-वत्सल भगवान् श्रीरामने सुग्रीवकी प्रशंसा करते हुए अपना व्रत बतलाया—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥

हनुमान्‌का मन खिल उठा। वाल्मीकि-रामायणमें भी भगवान् श्रीरामने ऐसी ही बात कही है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

'जो एक बार भी मेरी शरण होकर यह कह देता है कि मैं तेरा हूँ, मैं उसको सम्पूर्ण भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' भला, ऐसी हालतमें भगवान्‌का सच्चा भक्त निर्भय क्यों न होगा?

३—भक्तका किसी विषयमें ममत्व नहीं होता। उसका सारा ममत्व एकमात्र अपने प्राणाराध्य भगवान्‌में हो जाता है। फिर जगत्‌के पदार्थोंमें कहीं उसका

ममत्व यदि रहता है तो उनको भगवान्के पूजनकी सामग्री या भगवान्की वस्तु समझकर ही रहता है, अपने या अपने भोगके सम्बन्धसे नहीं। रामचरितमानसमें भगवान्ने कहा है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

संसारमें मनुष्य चारों ओर ममताके बन्धनसे जकड़ा हुआ है। उसका एक-एक रोम ममत्वके धागेसे बँधा है। भगवान् कहते हैं—'मनुष्य माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, मकान, सुहृद् और परिवार आदि सबमेंसे ममताके सूत्रोंको अलग करके उनकी एक ही मजबूत डोरी बट ले और उस डोरीके द्वारा अपने मनको मेरे चरणोंसे बाँध दे, तो वह सज्जन मेरे मन-मन्दिरमें उसी प्रकार निवास करता है जिस प्रकार लोभीके मनमें धन।' यह ममताका बन्धन इसीलिये कच्चे धागेका बतलाया गया है कि इसके टूटते देर नहीं लगती। जहाँ कहीं स्वार्थमें बाधा आयी कि ममताका धागा टूटा। विषयजनित सारा प्रेम अपने लिये होता है न कि प्रेमास्पदके लिये। इसीलिये यह टूटता भी बहुत शीघ्र है। परंतु जैसे धागोंकी बड़ी मजबूत रस्सी बट लेनेपर वह नहीं टूटती इसी प्रकार जगत्की सारी ममता सब जगहसे बटोरकर एक भगवान्के चरणोंमें लगा दी जाय तो फिर उसके नष्ट होनेकी कोई सम्भावना नहीं। इसीलिये यह कहा गया है कि भगवान्के प्रति होनेवाला सच्चा प्रेम सदा बढ़ता ही रहता है, कभी घटता नहीं।

संसारमें दुःखोंका एक प्रधान कारण ममता है। न मालूम कितने लोग प्रतिदिन मरते हैं और कितने लोगोंके धनका नित्य नाश होता है, पर हम किसीके लिये नहीं रोते; किंतु यदि हमारे घरका कोई आदमी मर जाय या अपना कुछ धन नष्ट हो जाय तो शोक होता है। इसका कारण ममता ही है। मान लीजिये हमारा एक मकान है, यदि कोई आदमी उसकी एक ईंट निकाल देता है तो हमें बहुत बुरा मालूम होता है। हमने उस मकानको बेच दिया और उसकी कीमतका चेक ले लिया। अब उस मकानकी एक-एक ईंटसे सारी ममता निकलकर हमारी जेबमें रक्खे हुए कागजके टुकड़े चेकमें आ गयी। अब चाहे मकानमें आग लग जाय, हमें कोई चिन्ता नहीं। चिन्ता है उस कागजके चेककी। बैंकमें गये, चेकके रुपये हमारे खातेमें जमा हो गये। अब भले ही बैंकका लिपिक उस कागजके टुकड़ेको फाड़ डाले, हमें कोई चिन्ता नहीं। अब उस बैंककी चिन्ता है कि वह कहीं फेल न हो जाय; क्योंकि उसमें हमारे रुपये जमा हैं। इस प्रकार जहाँ ममता है, वहीं शोक है, यदि हमारी सारी ममता भगवान्में अर्पित हो जाय, फिर शोकका जरा-सा भी कारण न रहे। भक्त तो सर्वस्व अपने प्रभुके अर्पण कर उनको अपना बना लेता है और स्वयं उनका बन जाता है। उसमें कहीं दूसरेके लिये ममता रहती ही नहीं, इसीलिये वह शोकरहित हुआ सर्वदा आनन्दमें मग्न रहता है।

४—भक्तमें अभिमान नहीं होता, वह तो सारे जगत्में अपने स्वामीको व्याप्त देखता है और अपनेको उनका सेवक समझता है। सेवकके लिये अभिमानको स्थान कहाँ? उसके द्वारा जो कुछ होता है सो सब उसके भगवान्की शक्ति और प्रेरणासे होता है। ऐसा विनम्र भक्त सदा सावधानीसे इस बातको देखता रहता है कि कहीं मेरे किसी कार्यद्वारा या मेरी किसी चेष्टाद्वारा विश्वव्याप्त मेरे स्वामीका तिरस्कार न हो जाय। मेरे द्वारा सदा-सर्वदा उनकी आज्ञाका पालन होता रहे, मैं सदा उनकी रुचिके अनुकूल चलता रहूँ। वह अपनेको उस सूत्रधारके हाथकी कठपुतली समझता है, सूत्रधार जैसे

नचाता है, पुतली वैसे ही नाचती है, वह इसमें अभिमान क्या करे ? अथवा यों समझिये कि यह सारा संसार स्वामीका नाट्यमंच है, इसमें हम सभी लोग नट हैं, जिसको स्वामीने जो स्वाँग दिया है, उसीके अनुसार साङ्गोपाङ्ग अभिनय करना हमारा कर्तव्य है। जो आदमी मालिककी रुचिके अनुसार उसका काम नहीं करता, वह नमकहराम है और जो मालिककी सम्पत्तिको अपनी मान लेता है वह बेईमान है। नट पार्ट करता है, स्टेजपर किसीके साथ पुत्रका-सा, किसीके साथ पिताका-सा, किसीके साथ मित्रका-सा यथायोग्य बर्ताव करता है, परंतु वस्तुतः किसी भी वस्तुको—अपनी पोशाक तकको भी वह अपनी नहीं समझता। इसी प्रकार भगवान्‌का भक्त उनकी नाट्यशालारूप इस दुनियामें उनके संकेतानुसार उन्हींके दिये हुए स्वाँगको लेकर आलस्यरहित हो उन्हींकी शक्तिसे कर्म किया करता है। इसमें वह अभिमान किस बातका करे ? वह मालिकका विधान किया हुआ—बताया हुआ अभिनय करता है, न कि अपनी ओरसे कुछ। पार्ट करनेमें कभी चूकता नहीं; क्योंकि इसमें मालिकका खेल बिगड़ता है और अपना कुछ मानता नहीं; क्योंकि वह जानता है कि सब मालिकका है, मेरा कुछ भी नहीं, वह मालिकको ही सबका नियन्त्रण करनेवाला और सर्वत्र व्याप्त देखता है और अपनेको उनका अनन्य सेवक समझता है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥

५—भक्त किसीसे द्वेष नहीं करता या किसीपर क्रोध नहीं करता। किससे करे ? किसपर करे ? सारा जगत् तो उसे स्वामीका स्वरूप दीखता है। शिवजी महाराज कहते हैं—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

भक्त विनय, नम्रता और प्रेमकी मूर्ति होता है।

६—भक्त किसी वस्तुकी कामना नहीं करता। उसे वह वस्तु प्राप्त है, जिसके सामने सब कुछ तुच्छ है, तब वह किसकी कामना करे और क्यों करे ? वस्तुतः प्रेममें कोई कामना रहती ही नहीं। प्रेममें देना है, वहाँ लेनेका तो नाम ही नहीं है। यही काम और प्रेमका बड़ा भारी भेद है। काममें प्रेमास्पदके द्वारा अपने सुखकी चाह है और प्रेममें अपने द्वारा प्रेमास्पदको सुखी बनाने की उत्कट इच्छा है। उसके लिये वही सबसे बड़ा सुख है, जिससे उसके प्रेमास्पदको सुख मिले, चाहे वह अपने लिये कितने ही भयानक कष्टका कारण क्यों न हो। प्रेमास्पदके सुखको देखकर प्रेमीकी भयानक पीड़ा तुरंत दिव्य सुखके रूपमें परिणत हो जाती है। अतएव भगवान्‌का प्रेमी कभी कामी नहीं होता, वह तो चातककी भाँति मेघरूप भगवान्‌की ओर सदा एकटक दृष्टिसे निहारा करता है। बादल यदि न बरसे या जलके बदले ओले बरसावे, तो भी वह प्रेमके नेमका पक्का पपीहा उधरसे मुँह नहीं मोड़ता।

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गये अंग।
'तुलसी' चातक प्रेमको, नित नूतन रुचि रंग॥
बरषि परुष पाहन पयद, पंख करे टुक टूक।
'तुलसी' परी न चाहिये चतुर चातकहि चूक॥

यही दशा भक्तकी है।

फिर वह चाहे भी क्या ? जगत्‌का सारा ऐश्वर्य जिसके ऐश्वर्यका एक कण भी नहीं है, वह सर्वलोकमहेश्वर श्यामसुन्दर उसका प्रियतम स्वामी है, उसकी सेवाको छोड़कर वह क्या चाहे ? इसीलिये ललितकिशोरीजीने गाया है—

अष्टसिद्धि नवनिद्धि हमारी मुट्ठीमें हरदम रहतीं।
नहीं जवाहिर सोना चाँदी त्रिभुवनकी संपति चहतीं॥
भावैं ना दुनियाकी बातें दिलबरकी चरचा सहती।
'ललितकिसोरी' पार लगावैं मायाकी सरिता बहती॥

भक्त तो केवल अपने प्रियतम स्वामीकी सेवामें ही रहना चाहता है, वह सेवाको छोड़कर मुक्ति भी नहीं ग्रहण करता। करे भी कैसे? भगवान्के उस अनन्य सेवकके लिये मायाका बन्धन तो है नहीं जिससे वह मुक्त होना चाहे। अब तो केवल भगवत्-सेवाका बन्धन है, भक्त इस प्यारे बन्धनसे मुक्ति क्यों चाहेगा? श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

मेरी सेवाको छोड़कर मेरे भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व मुक्तियोंको देनेपर भी नहीं लेते हैं।

भक्त जानता है, मेरे प्रभु समस्त ब्रह्माण्डोंके एकमात्र स्वामी हैं, मुक्ति उनके चरणोंकी दासी है। वह कहता है—

अब तो बंध-मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बंधन है मुक्ति चरणसे झरती है॥

मुक्तिदायिनी गङ्गाजी श्रीभगवान्के चरणोंका ही तो जल हैं।

एक समय ब्रह्माजी भगवान्के द्वारपर पहुँचे। भगवान्ने द्वारपालके द्वारा उनसे पुछवाया कि 'आप कौन-से ब्रह्मा हैं?' ब्रह्माको इस बातपर बड़ा आश्चर्य हुआ वे सोचने लगे—'कहीं ब्रह्मा भी दस-बीस थोड़े ही हैं।' उन्होंने कहा—'जाओ, कह दो, चतुर्मुख ब्रह्मा आये हैं।' भगवान्ने उनको भीतर बुलाया। ब्रह्माजीका कौतूहल शान्त नहीं हुआ। उन्होंने पूछा—भगवन्! आपने यह कैसे पूछा कि कौन-से ब्रह्मा हैं! क्या मेरे अतिरिक्त और भी कोई ब्रह्मा है?' भगवान् हँसे, उन्होंने विभिन्न ब्रह्माण्डोंके ब्रह्माओंका आवाहन किया। तत्काल वहाँ चारसे लेकर हजार मुँहतकके अनेकों ब्रह्मा आ पहुँचे। भगवान्ने कहा—'देखो, ये सभी ब्रह्मा हैं। अपने-अपने ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं।' तब ब्रह्माजीका संदेह दूर हुआ। ऐसे ब्रह्माओंके एकमात्र स्वामी जिसके प्राणप्रिय हों, वह भक्त किस वस्तुकी कामना करे।

भक्त तो निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर अति प्रेमके साथ उनका चिन्तन ही करता रहता है। तुलसीदासजीने कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

भक्त निरन्तर अपने भगवान्के लिये कामी और लोभीकी इस दशाको प्राप्त रहता है। वह कैसे उनको भुलावे? और कैसे दूसरे विषयके लिये कामना या लोभ करे?

अतएव भक्त सदा-सर्वदा भगवान्के चिन्तनमें ही चित्तको लगाये रखता है। भगवान्ने भी गीतामें स्थान-स्थानपर नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेकी आज्ञा दी है। आठवें अध्यायमें कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥५॥

'जो मनुष्य मृत्युके समय मुझको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।' इसपर लोग सोच सकते हैं कि फिर जीवनभर भगवान्का स्मरण करनेकी क्या आवश्यकता है। मरनेके समय भगवान्को याद कर लेंगे। याद करके मरनेपर भगवत्प्राप्तिका वचन भगवान्ने दे ही दिया है। इसी भ्रान्त धारणाको दूर करनेके लिये भगवान्ने फिर कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥६॥

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

उद्धव-संदेश

[लेखक—डॉ० श्रीमहामामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०]

(अनुवादक—श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल)

(६)

नन्दराजकी आर्ति चरम सीमाको लाँघ चुकी थी। अब उनके पास चुप बैठना कठिन था। वहाँ रहनेवालेको या तो उनके साथ रोना पड़ता या कुछ-न-कुछ बोलना। उद्धवके पास न तो उनका साथ देकर विलाप करनेकी योग्यता है, न उन्हें प्रबोध देने योग्य भाषाका ही ज्ञान है। उद्धव अपने जीवनमें कभी इस प्रकार असहाय न हुए थे। वे विवश हो बोले—'नन्दराज! आप और माँ यशोदा महान् भाग्यवान् हैं। आपके समान श्लाघनीय जीवन जगत्‌में न हुआ है न होगा—**'युवां श्लाघ्यतमौ लोके।'** श्रीकृष्णचन्द्रके धराधामपर अवतीर्ण होनेके कारण आज जगत् महान् भक्तोंसे परिपूर्ण हो रहा है। महाप्रेमी भक्त स्थान-स्थानपर जन्म ग्रहण कर चुके हैं। सृष्टिके आदिसे आजतक जितने भक्तोंने जन्म ग्रहणकर इस पृथ्वीको अलङ्कृत किया है, आप उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। आपकी तरहका समर्पित-चित्त, वियोग-व्याकुल, प्रीतिमान् भक्त इस पृथ्वीपर कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। किसी गोष्ठीमें कोई एक व्यक्ति महत्ता प्राप्त कर लेता है तो गोष्ठीके सारे सदस्य उसके लिये गर्वका अनुभव करते हैं, जगत्‌की भक्त-गोष्ठीके हम सब भी आपके नामपर गर्व अनुभव करते हैं। आपलोगोंकी भाग्यमहिमाका वर्णन करनेमात्रसे भी हम अपनेको धन्य अनुभव करते हैं। आप-जैसोंको अपने वक्षपर धारण करके धरणी भी धन्य हुई है।'

सुन्दर और परम सत्य होते हुए भी उद्धवकी बातें नन्दराजके हृदयमें तीखे तीर-सी लगीं। अधिक वेदनासे कातर हो वे कहने लगे—'वत्स उद्धव! सुना था कि तुम बहुत बुद्धिमान् हो। तुम्हें देखकर भी तो ऐसा ही लगा था, किंतु तुम्हारी बात सुनकर तो बड़ी निराशा हुई है। तुम निरे बालक हो, नितान्त अज्ञ हो। ऐसा न होता तो तुम मुझ महान् हतभाग्यको मुँहपर ही भाग्यवान् क्यों कहते? उद्धव! जो व्यक्ति पुत्र-विरहसे मुमूर्षु हो रहा है, उसे तुम भाग्यवान् कहते हो? फिर पुत्र भी ऐसा-वैसा नहीं। पुत्र तो सभी मनुष्योंके होते हैं, किंतु श्रीकृष्ण-सदृश पुत्र किसीको हुआ है या होगा? यदि तुम्हारे हृदयमें स्वल्पमात्रमें भी अनुभवशक्ति होती तो तुम ऐसे व्यक्तिको भाग्यशाली नहीं कहते जो श्रीकृष्ण-जैसे पुत्ररत्नके वियोगमें मरणाधिक वेदनासे दिन-रात्रि छटपटा रहा हो। जिसके मस्तिष्कमें अत्यल्प मात्रामें भी बुद्धि होगी, वह भी भलीभाँति जानता होगा कि पृथ्वीपर हमारे-जैसे हतभाग्य और नहीं जन्मे हैं। बड़े-से-बड़े शत्रुको भी हमारे-जैसा दुर्भाग्य प्राप्त न हो। उद्धव! हमारे ऊपर तो विधाता ही विमुख है, जो ऐसी बात भी सुननी पड़ती है। हमें भाग्यवान् कहना तो एक प्रकारसे हमारा परिहास करना हुआ।'

नन्दराजकी बातें सुनकर उद्धव स्तब्ध रह गये। समझ गये कि मेरा बोलना उचित न हुआ। उद्धव गम्भीरतासे विचार करने लगे तो लगा कि उन्होंने जो कुछ कहा है, वह तत्त्वतः तो यथार्थ ही है। जिसके हृदयमें आकुलतासे भरपूर इस प्रकार कृष्णानुराग विद्यमान है, वही तो परम भाग्यवान् है। भक्ति-शास्त्र इसीका समर्थन करते हैं। जो बात शास्त्रीय सिद्धान्तसे अनुमोदित है, वही कहना नीतिज्ञ और शास्त्रज्ञ व्यक्तिका सर्वदा कर्तव्य है। तब तो न्यायतः और धर्मतः परम सत्यभाषण करके उद्धवने अपना कर्तव्य ही किया है। किंतु

आश्चर्य तो इस बातका है कि ऐसी बात भी अन्याय और अकर्तव्य-सी लगकर नन्दराजकी वेदनावृद्धिका कारण बनी ।

उद्धव दिग्भ्रान्तकी तरह विचार-समुद्रमें गोते खाने लगे । वस्तुतः नन्दराजकी श्रीकृष्ण-प्रीतिका गौरव अंश ग्रहण करके उद्धव मुग्ध हो गये हैं, किंतु उसका कण-मात्र ग्रहण करके अभिभूत न हो सके । उद्धव नन्दराजके दुःखके स्वल्पांशका भी अनुभव नहीं कर पाये, केवल उसके महिमांशका अनुभव करके चमत्कृत हुए हैं । उद्धवने यह भलीभाँति हृदयङ्गम कर लिया कि इतना अनुराग जिसके हृदयमें भरा है, वह कितना महान् है और इसीलिये उनको महान् भाग्यवान् कह भी सके । नन्दराजके श्रीकृष्णवात्सल्यकी विशालतासे उद्धव मुग्ध हुए हैं, किंतु उसकी गम्भीरतामें अवगाहन करके उसमें अपनेको विलीन नहीं कर सके । उद्धव स्वयंको स्वयं ही नहीं समझ पा रहे हैं, कारण, उद्धवके चित्तमें जो श्रीकृष्णभक्ति है, उसमें श्रीकृष्णके ऐश्वर्यांशकी स्फूर्ति ही प्रधानरूपसे विराजमान है । श्रीकृष्ण ही परदेवता, परब्रह्म हैं, यह बात उद्धवके अन्तःकरणके अन्तरतम प्रदेशमें भी भिदी हुई है । जीवके अनुरागके परम विषय पूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । जिस वस्तुमें अनुराग स्थापन करना उचित है, नन्दराजका अनुराग उसी वस्तुमें स्थापित है । अतएव नन्दराजको महामहिमान्वित विशिष्ट व्यक्ति माननेमें उद्धवको कथमपि हिचकिचाहट नहीं है । किंतु नन्दराजकी प्रीति किसी तर्कसङ्गत युक्तिके औचित्यसे उत्पन्न नहीं है, यह बात उद्धवकी समझसे बाहर है । नन्दराज श्रीकृष्णसे इसलिये प्रेम नहीं करते कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, अतः उनसे प्रेम करना चाहिये । नन्दराजका प्रेम स्वभावसिद्ध है, स्वतःसिद्ध है । उद्धवकी श्रीकृष्णके प्रति इसलिये प्रीति है कि उद्धवकी बुद्धिमें श्रीकृष्ण भगवान्के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । नन्दराजके लिये श्रीकृष्ण उनके पुत्रके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं ।

आज मानो मथुरापुरी व्रजदर्शनको आयी है । केवल दर्शन ही नहीं व्रजराजको सान्त्वना भी देनी है । उद्धव व्रजराजके श्रीकृष्णप्रेमकी गरिमामात्र बुद्धि-द्वारा ग्रहण कर पा रहे हैं । उसकी मधुरिमा हृदयद्वारा आस्वादन नहीं कर पा रहे हैं । यही कारण है कि उनका निर्दोष वाक्य भी दोषावह हो गया है ।

करुणानिधान प्रभुका स्वभाव

(रचयिता—डॉ० श्रीनारायणदत्तजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्०, डी०)

(भक्तकी) थोरिइ पीर बहुत दुख पावत ।
दीनबंधु करुनानिधान वे भक्त की टेर भाजतेइ आवत ।
कान परत कातर सुर जन कौ नागेंइ पायन धावत ।
जब जब भीर परति निज जन पै छिन महँ आय छुडावत ।
गज, प्रह्लाद, गाय, गोपी, ध्रुव कछु तिहि सीख बतावत ।
बसन रूपधरि द्रुपद-सुता की केहि विधि लाज बचावत ।
करुनामय सुभाउ मेरे प्रभु कौ श्रुति पुरान जस गावत ।
'दत्त' सुकवि भव व्याल ग्रसित कौं काहे नाहिं छुरावत ।

प्रभो ! आप मुझे सद्बुद्धि दें !

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

स्वर्गीय जार्ज पञ्चम वार्किंगम महलके अपने पुस्तकालयकी दीवारोंपर ये मार्मिक शब्द लिखवा रखे थे—

'हे प्रभो ! मुझे ऐसी सद्बुद्धि दीजिये कि मैं संसारमें असम्भव वस्तुओंको प्राप्त करनेकी मिथ्या कामना न करूँ और बिगड़ी बातोंपर विक्षोभमें आँसू न बहाऊँ।'

सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहॉवरने इसी बहुमूल्य विचारको इन शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है—'मानव-जीवनमें समर्पणके भावका प्रमुख महत्त्व है।'

उन्नीस सौ वर्ष पूर्व रोमनिवासियोंको सुखी रहनेका रहस्य स्पष्ट करते हुए विचारक एकपिकटेड्सने बड़े पतेकी बात कही थी, जो इन्हीं विचारोंसे मिलती है। उन्होंने कहा था—'हम अपनी पूरी शक्तिसे कठिनाइयों, मुसीबतों, प्रतिकूलताओं और परेशानियोंसे बचनेकी कोशिश तो करें, किंतु अपनी सामर्थ्यके बाहरकी बातोंके लिये चिन्तित होना छोड़ दें।'

मानवका भविष्य एक अनिश्चित रूप है। हम अपनी विवेक-बुद्धि लगाकर आगे आनेवाले समयके लिये भाँति-भाँतिके अनुमान लगा सकते हैं, उन्नति करने, व्यापारमें लाभ कमाने, पारिवारिक सुख-शान्तिके लिये अनेक प्रयत्न कर सकते हैं, पूरी सावधानीसे जीवनकी रक्षाके उपाय सोच सकते हैं, दूरदर्शी व्यक्तियोंके अनुभवोंसे लाभ उठाते हुए आगे बढ़ सकते हैं, किंतु फिर भी भविष्यपर हमारा कोई वश नहीं है। जीवन एक यात्रा है, जिसमें एक-एक पग एक-एक दिन बड़े धीरे-धीरे आगे बढ़ना होता है पर यह पता नहीं कि उसमें कहाँ ऊबड़-खाबड़, कंकड़-काँटे, ऊँचा-नीचा, खाई-खन्दक या अचानक रुकावट आ जाय ! जीवन-यात्रामें किसी भी प्रकारकी नयी अप्रत्याशित परिस्थिति आ उपस्थित हो सकती है। ऐसी मुसीबतें आ सकती हैं, ऐसी हानि हो सकती है, जिनका हमें कोई अनुमान नहीं होता। जीवनके पथरीले मार्गके हिचकोले और धक्के आ सकते हैं। यदि हम जीवनके इन धक्कोंसे लड़ने लगें, उन हिचकोलोंको सहनेके सिवा उन्हें रोकने लगें, उनका सामना करें तो क्या परिणाम होगा ?

हम अपने मस्तिष्कमें अनेक जटिल अन्तर्द्वन्द्वोंकी सृष्टि कर बैठेंगे। हम व्यर्थ ही थकित, तनावग्रस्त और उन्मादी हो जायँगे।

यदि हम एक कदम और आगे बढ़ें तथा दुनियाके कठोर और कटु वास्तविकताके शुष्क संसारको छोड़कर स्वनिर्मित संसारसे पलायन करने लगें तो पागल हो जायँ। कल्पनालोकमें आप जो चाहें, सोच-विचार सकते हैं, मनको भ्रमित कर काल्पनिक-लोकमें विचरण कर सकते हैं, पर संसारका जीवन कटुताओं और कठोरताओंसे भरा हुआ है। वह हमारी कल्पनाके अनुसार नहीं चल सकता। हमारा जीवन एक युद्ध है, विरोधोंके विरुद्ध एक संघर्ष है। यह प्रतिकूलताएँ कहीं बीमारी हैं, तो कहीं गरीबी, अशिक्षा, रूढ़िवादिता, निराशा, घबराहट तथा अवसाद और कहीं हानि, मृत्यु, हिंसा, प्रतिशोध, अत्याचार आदि। आजकी जटिल परिस्थितियों—मँहगाई, रोजगार, बेकारी, आपाधापी, भ्रष्टाचार, राजनीतिके फन्दे, गुंडागर्दीके खतरे, बड़े शहरोंमें बसने या रहनेकी किल्लतें आदिने इस संघर्षको कहीं कड़वा कर दिया है, तो कहीं उदास ! इसलिये आजकी विवशताओंमें हमारे लिये जीवनकी समता और सन्तुलन बनाये रखना कठिन हो गया है; पर ये मुसीबतें न भी हों, तब भी जीवन कष्टोंके विरुद्ध एक संघर्ष है और संघर्षसे बचनेके लिये हर सम्भव कोशिश करना हमारा कर्तव्य है।

उस संघर्षमें हम पड़ें तो सही, अपनेसे बन सकनेवाली हर प्रकारकी चेष्टाएँ भी करें, किंतु जहाँ हम घबराएँ या अपने आपको असमर्थ समझें वहाँ क्या करें ?

वहाँ प्रभुको आत्मसमर्पण करें। सब कुछ भगवान्के हाथोंमें अर्पित कर दें। मनुष्य तो कर्त्तव्य कर्मके लिये बाध्य है, फलकी चिन्तामें उलझना उसका काम नहीं। फल भगवान्के हाथमें है। सफलता या असफलता मनुष्यके कार्यकी कसौटी नहीं है। खेलाड़ी जब गेंद खेलना प्रारम्भ करते हैं तो गिरते-पड़ते और चोटें खाते हैं। अन्तमें एक पक्ष हारता है, दूसरा जीतता है। कई बार कमजोर जीत जाता है, कुशल खेलाड़ी पराजित होता है। परीक्षामें कभी-कभी मन्दबुद्धि विद्यार्थी उत्तीर्ण हो जाते हैं, कुशाग्र और तेजस्वी पिछड़ जाता है। इसे आप क्या कहेंगे ?

वास्तवमें सफलताकी सही कसौटी यह है कि हमने अपने कर्तव्यको कितनी सावधानी, सतर्कता, ईमानदारी और पूर्णतासे किया। फल तो ईश्वरके हाथ है। फलसे सफलता नहीं आँकनी चाहिये, प्रत्युत कर्त्तव्यकी पूर्णतासे उसे मानना चाहिये।

'अरे पराजित मनुष्य ! उठ, कर्तव्यके लिये संघर्ष कर। हार मिले या जीत, तू तो बस युद्ध (संघर्ष) करता चल। युद्ध ही जीवन है, संघर्ष ही मनुष्यता है।'

वास्तवमें फल हमारे हाथकी बात नहीं है। जो वस्तु असाध्य है, पहुँचसे परे है, उसको पानेकी अभिलाषा करना मूर्खता है, मृगजलके पीने-हेतु दौड़नेजैसा व्यर्थ प्रयास है, जिसका पर्यवसान घोर निराशाके अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

पुराणोंकी मौलिक प्रामाणिकता

(लेखक—डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी)

भारतीय मान्यताके अनुसार धर्माधर्मके निर्णय तथा प्रमाणमें प्रयोजक होनेके लिये शुक्ल यजुर्वेदके द्रष्टा प्रमेयनयकी जन्मभूमि मिथिलाके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महर्षि याज्ञवल्क्यकी स्मृति तथा उसकी मिताक्षरा टीकाकी सर्वाधिक मान्यता सभी न्यायालयोंमें अबतक रही है। वह प्रमाणके लिये सर्वप्रथम पुराणोंका ही उल्लेख करती है। पुराणादिकी सहायतासे ही वेदविद्या और धर्मका स्थान बनता है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(याज्ञ० १ । ३)

वेदके परम प्रामाण्य होनेपर भी उसके सभी अंश प्राप्त नहीं हैं। वेदोंके अर्थोंके निर्णायक मुनियोंके भी मतमें समानता नहीं है, परस्पर विरोध ही लक्षित हो रहा है। मत्स्यपुराणके १४४ वें अध्यायमें भी द्वापरान्तके बाद वेदोंकी दुर्दशाका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इसके अनुसार प्राप्त अंशोंका अर्थ भी सहज ज्ञानगम्य नहीं है। अतः वेदके अर्थोंके निर्णयके लिये पुराण और इतिहास ही साधन हैं। जो वेदांश विदित नहीं हैं, वे भी पुराणके आधारपर ही दृष्ट या अनुगेय हो सकते हैं, अतः पुराण ही वेदमें प्रामाण्यका प्रत्यक्ष सुगम साधन है। इसीलिये महाभारतमें कहा गया है कि इतिहास और पुराणोंके आधारपर वेदका अर्थ स्पष्ट समझना चाहिये—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'—'पुराण' शब्दकी व्युत्पत्तिसे उसका तात्पर्य और स्पष्ट होता है*। 'पुरा अणति—इति पुराणम्'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार वे सर्वाधिक प्राचीन एवं वेदके पूरक हैं। पुराण वेदान्तर्गत ही हैं; क्योंकि जो वेद नहीं होगा, उससे उसका पूरण कैसे

* 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौतुट् च' (पा० ४ । ३ । २३) सूत्रसे 'पुरा' अव्ययके प्रति 'तुट्' आगमके बिना ही 'ट्यु' प्रत्यय होकर पुरातनकी जगह पुराण बनता है अथवा "अण् (१ । १४०)", "अन् (२ । ४०)" शब्द या "प्राणये" से "पुराण" पद बनता है। अथवा "पूर्वकाल—पुराणनवकेवलाः" (२ । १ । ४९) सूत्रसे निपातनद्वारा—"पुराण" शब्द बनता है।

वायु-ब्रह्माण्डादि पुराणोंमें—'यस्मात्पुरा ह्यणतीति पुराणमिति तनो विदुः' कहकर पुराणकी निष्पत्ति की गयी है।

सम्भव है। अपूर्ण सुवर्णके वलय आदिका पूरण कनकसे ही हो सकता है, काँचसे नहीं।

पुराणमें स्वर एवं शब्दक्रमका परिवर्तन होना असम्भाव्य नहीं माना है—यही वेदसे उसकी भिन्नता है। किंतु अपौरुषेय अर्थकी दृष्टिसे दोनों अभिन्न हैं। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है—'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्' (६ । ३ । २)। स्कन्दपुराणके प्रभासखण्डमें भी कहा गया है कि पुरातन कालमें देवपितामह ब्रह्माने उग्र तपस्या की। उसके फलस्वरूप षडङ्गपदक्रमके साथ वेदका आविर्भाव हुआ। इसके बाद ब्रह्माके मुखसे नित्यशब्दमय शतकोटि श्लोकनिबद्ध सुविस्तृत पवित्र सर्वशास्त्रमय परमार्थ-तत्त्वके प्रतिपादक ब्रह्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, ब्रह्मवैवर्त, गरुड़ और ब्रह्माण्ड—इन अठारह पुराणोंका आविर्भाव हुआ।

पुरा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः॥
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥
(स्क० ७ । २ । २७-२८)

ऐसे ही श्रीमद्भागवतके वेदोत्पत्ति-प्रकरणमें कहा गया है कि ब्रह्माके पूर्व आदि मुखोंसे यथाक्रमसे ऋक्, यजुः, साम और अथर्व आविर्भूत हुए एवं इतिहास-पुराणात्मक पञ्चम वेदका सभी मुखोंसे आविर्भाव हुआ—

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥
(श्रीमद्भा० ३ । १२ । ३९)

यही कारण है कि 'पुराणं पञ्चमो वेदः'से एवं सामवेदकी कौथुमीय शाखा और तल्वकार शाखाकी छान्दोग्य उपनिषद्में स्पष्ट शब्दोंमें पुराणोंको पञ्चम वेदके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है—"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्" (छा० ७।१।२)। इससे स्पष्ट है कि चार वेदोंमें पुराणके अन्तर्भावका प्रश्न भी नहीं उठ सकता है। वेदाध्ययनके अनर्ह सामान्य जनोंके अध्ययन योग्य महर्षि वेदव्यासकृत पुराण और इतिहास हैं। व्यासने ही वेद-विभाजन और इतिहास-पुराणकी रचना साधारणजनके कल्याणकी भावनासे की है।

पुराणके पञ्चम वेदके रूपमें मान्यताके लिये वायु एवं विष्णु आदि पुराणोंमें भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। वहाँ वेदोंका व्यसन (विस्तार) करनेसे ही पुराणकर्ताको 'व्यास' संज्ञा दी गयी है—'व्यस्यति वेदान्' इति व्यासः।
(विष्णुपुराण ३ । ४ । ४)

आख्यान-उपाख्यान तथा पुरावृत्त आदिसे संवलित पञ्चलक्षणात्मक पुराणोंका एवं महाभारत आदि संहिताओंका प्रणयन व्यासने किया। वेदोंका मुख्य लक्ष्य यज्ञसम्पादन है। यजुर्वेदकी प्रधानता यज्ञ-सम्पादनमें ही है। सुविधाके लिये फिर उसके चार भेद किये गये। सूतने कहा है—

इतिहासपुराणानां वक्तारं सम्यगेव हि।
मां चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः॥
एक आसीद् यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्।
चातुर्होत्रमभूत् तस्मिंस्तेन यज्ञमकल्पयत्॥
आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु होत्रमृग्भिरेव च।
उद्गात्रं सामभिश्चैव ब्रह्मत्वं चाप्याथर्वणेन तु॥
आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिर्द्विजसत्तमाः।
पुराणसंहिताश्चक्रे पुराणार्थविशारदः॥
(वायुपु० ६० । १६-१९)

मत्स्यपुराणमें मत्स्यभगवान्ने भी कहा है कि द्विजोत्तमगण! कालधर्मके अनुसार मानव सभी पुराणोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है, अतः प्रत्येक युगमें मैं व्यासरूपमें अवतीर्ण होकर पूर्वसिद्ध शतकोटिसंख्यक पुराणराशिको मनुष्यके संग्रहकी दृष्टिसे संक्षिप्त करता हूँ—

कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे॥
(मत्स्यपुराण ११ । ८)

इस कथनके अनन्तर ही कहा है—प्रत्येक द्वापरयुगमें चार लाख श्लोकोंमें संक्षिप्त एक पुराणको अठारह भागोंमें विभक्त कर मर्त्यलोकमें प्रचारित किया। आज भी देवलोकमें पुराण शतकोटिके रूपमें उपलब्ध हैं। उसीका संक्षिप्त-रूप मर्त्यलोकमें अष्टादश पुराण हैं। इस प्रकार यजुर्वेदका अवशिष्ट अंश ही पुराण है—

चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते॥
अद्यापि स्वर्गलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्।
तदर्थोऽस्य चतुर्लक्षः संक्षेपेण निरूपितः॥
(मत्स्यपु० ५३ । ९-१०)

शिवपुराणकी वायवीयसंहितामें भी इसी विषयको कहा गया है—

संक्षिप्य चतुरो वेदांश्चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः।
व्यस्ता वेदा यतस्तेनो वेदव्यास इति स्मृतः॥
पुराणमपि संक्षिप्तं चतुर्लक्षप्रमाणतः।
अद्याप्यमर्त्यलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्॥
(२।१।१६-१७)

इस प्रकार वक्ताके आधारपर स्कन्द, अग्नि आदि पुराणोंका नामकरण हुआ है। ये अनादि हैं।

विष्णुपुराणमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वेद पुराणोंमें प्रतिष्ठित हैं—'वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः।' वेदके दुरूह अंशकी व्याख्याके कारण पुराणका वैशिष्ट्य सर्वथा मान्य है।

विष्णुपुराण आदिमें कृष्णद्वैपायनका वैशिष्ट्य वर्णन करते हुए वेद और पुराणका महत्त्वातिशय व्यक्त किया गया है। और महाभारत तथा पुराणोंके रचयिता कृष्णद्वैपायनको साक्षात् नारायणका ही अंश कहा गया है—

अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्।
उत्सन्नान् ततो वेदानुज्जहार हरिः स्वयम्॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्।
को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद् भवेत्॥
(विष्णुपु० ३।४।५)

इतना ही नहीं, नारदीयपुराणमें पुराणका विचार अतिशय कल्याणकर सिद्ध किया गया है। शिवजीने पार्वतीसे कहा है कि वेदोंमें ग्रहसंचार, तिथिनिर्णय आदि स्पष्ट नहीं हैं, वे स्मृतियोंमें भी नहीं हैं, पर पुराणोंने इसका निर्णय किया है, अतः सुन्दर मुखवाली! मैं वेदार्थसे पुराणोंके अर्थको अधिक मानता हूँ—'वेदार्थमधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने' (२।२०।५); क्योंकि वेदार्थ पुराणमें ही प्रतिष्ठित है—इसमें संदेह नहीं है। पुराणको वेदसे अन्यथा करनेपर व्यक्ति अच्छी तरह इन्द्रियोंका दमन नहीं कर सकता। फलतः दुःशान्त व्यक्तिकी भी पक्षियोनि आदिमें जाना सुनिश्चित है। अतः पुराणका प्रामाण्य वेदके समान सुनिश्चित है।

स्कन्दपुराणके प्रभासखण्डमें वेदके समान ही पुराणार्थको निश्चल मनसे विचार करनेका निर्देश उपलब्ध होता है। वेद अतिशय विस्तृत है, अतः दो-चार शाखाओंके अध्ययनसे वेदार्थ-निर्णय सम्भव नहीं है। वेद भाष्योंसे भी वेदार्थ-ग्रहणकी सम्भावना नहीं है। पुराण ही वेदोंके अकृत्रिम भाष्य हैं। अतः इनसे ही वेदार्थकी अवगति करनी चाहिये।

पञ्चलक्षण पुराणोंकी स्वतन्त्र विशेषता है। मत्स्यपुराणमें कहा है कि सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित-रूप पञ्चलक्षणात्मक आख्यान पुराण हैं। 'भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते।' सूक्ष्म भूत या गुणत्रयकी साम्यावस्था प्रधान है, इस प्रधानमें क्षोभ होनेसे महत्तत्त्व, बुद्धि, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, उससे सूक्ष्ममहाभूत, इन्द्रियाँ, स्थूल-महाभूत एवं तदुपलक्षित देवताओंका सम्भव या कारणसृष्टि ही सर्ग है और कर्मसृष्टि प्रतिसर्ग है, ब्रह्मप्रसूत राजाओंका वंश-वंशानुवर्णन है। देव-मनुओंसे उनके पुत्रादिकी उत्पत्ति-सप्तर्षि, इन्द्रादिका वर्णन ही मन्वन्तर वर्णन है, पूर्वोक्त राजाओंके वंशधरोंकी घटना ही वंशानुचरित है। यह पुराण भिन्न-भिन्न कल्पोंमें भिन्न-भिन्न कथाओंमें है, उनमें सात्त्विक कल्पमें श्रीहरिका अधिक माहात्म्य, राजस कल्पमें ब्रह्माका अधिक माहात्म्य, तामसकल्पमें अग्नि और शिवका अधिक माहात्म्य है। सत्त्वरजस्तमोमय सङ्कीर्ण कल्पोंमें सरस्वती और पितृगणोंका अधिक माहात्म्य है। अग्नि शब्दसे यज्ञ भी विवक्षित है एवं शिवसे चकारके द्वारा शिवा भी निर्दिष्ट है। सरस्वती शब्दसे वाण्यात्मक सरस्वतीके द्वारा उपलक्षित देवगणका माहात्म्य बोधित है। पितृगणके द्वारा 'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि वेदके द्वारा प्रतिपादित पितृलोकप्रापक श्राद्ध आदि कर्मोंके माहात्म्यका निर्देश है।

इस प्रकार कल्पभेदसे नाना देवताओंका प्रतिपादक होनेपर भी मत्स्यपुराणके अनुसार पुराणोंकी संख्या और पुराणोंके दानाध्यायमें लिखित भिन्न-भिन्न कल्पकथाके द्वारा प्रसिद्ध सभी पुराणोंकी व्यवस्था भी प्रदृष्ट हुई है। अतः पुराणका प्रामाण्य प्रतिष्ठित है एवं सभी पुराणोंका प्राधान्य सम है।

गीताका कर्मयोग—६१

[गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क सं० ३, पृष्ठ सं० ५०५से आगे]

श्लोक—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

भावार्थ—कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका कर्म, कर्म-सामग्री और कर्मफल—तीनोंके साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता। उसमें प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंका किञ्चिन्मात्र भी आश्रय नहीं रहता। वह सर्वथा स्वाधीन रहता है। नाशवान् पदार्थोंका आश्रय न रहनेके कारण वह अपने-आपमें ही सदा तृप्त रहता है। जबतक नाशवान् पदार्थोंका आश्रय रहता है, तबतक इस नित्यतृप्तिका अनुभव नहीं होता। संसार अनित्य है, इसलिये उससे होनेवाली तृप्ति भी अनित्य ही होती है; परंतु स्वरूप नित्य है, इसलिये उससे होनेवाली तृप्ति भी नित्य ही होती है। ऐसा महापुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको तत्परतापूर्वक करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता अर्थात् वह कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त (असङ्ग) रहता है।

अन्वय—**कर्मफलासङ्गम्, त्यक्त्वा, निराश्रयः, नित्यतृप्तः, सः, कर्मणि, अभिप्रवृत्तः, अपि, किंचित्, एव, न, करोति ॥ २० ॥**

पद-व्याख्या—**कर्मफलासङ्गम् त्यक्त्वा**—(जो) कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करके—

जब कर्म करते समय कर्ताका यह भाव रहता है कि शरीरादि कर्म-सामग्री मेरी हैं, मैं कर्म करता हूँ, कर्म मेरा और मेरे लिये है तथा इसका मुझे अमुक फल मिलेगा, तब वह कर्मफलका हेतु बन जाता है। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषको प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेदका अनुभव हो जाता है, इसलिये कर्म करनेकी सामग्रीमें, कर्ममें तथा कर्मफलमें किंचित् भी आसक्ति न रहनेके कारण वह कर्मफलका हेतु नहीं बनता; यही है—**'मा कर्मफलहेतुर्भूः'** (गीता २ । ४७)।

सेना विजयकी इच्छासे युद्ध करती है। विजय होनेपर विजय सेनाकी नहीं, अपितु राजाकी मानी जाती है; क्योंकि राजाने ही सेनाके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध किया है; उसे युद्ध करनेकी सामग्री दी है और उसे युद्ध करनेकी प्रेरणा की है; साथ ही सेना भी राजाके लिये ही युद्ध करती है। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कर्म-सामग्रीके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही जीव उनके द्वारा किये गये कर्मोंके फलका भागी होता है।

कर्म-सामग्रीके साथ किंचित् भी सम्बन्ध न होनेके कारण महापुरुषका कर्मफलके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

वास्तवमें कर्मफलके साथ स्वरूपका सम्बन्ध है ही नहीं; कारण कि स्वरूप चेतन, अविनाशी और निर्विकार है; परंतु कर्म और कर्मफल—दोनों जड तथा विकारी हैं और उनका आरम्भ तथा अन्त होता है। सदा स्वरूपके साथ न तो कोई कर्म रहता है तथा न कोई फल ही रहता है। इस प्रकार यद्यपि कर्म और फलसे स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि प्राणीने भूलसे उनके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनका कारण है। यदि यह माना हुआ सम्बन्ध मिट जाय, तो कर्म और फलसे उसकी स्वतःसिद्ध निर्लिप्तताका बोध हो जाता है।

निराश्रयः—आश्रयसे रहित—

कर्म, कर्म-सामग्री और कर्मफलका किञ्चित् भी आश्रय न लेना ही 'निराश्रय' अर्थात् आश्रयसे रहित होना है। छठे अध्यायके पहले श्लोकमें **'अनाश्रितः कर्मफलम्'** पदोंसे भी यही बात कही गयी है।

जबतक प्रकृति और उसके कार्यका आश्रय रहता है तबतक मनुष्य पराधीन रहता है और बारंबार जन्मता-मरता रहता है। आश्रय न रहनेसे मनुष्य स्वाधीन होकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। कर्मयोगी मिली हुई वस्तुओंको अपनी और अपने लिये नहीं मानता, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही मानकर उन्हें संसारकी ही सेवामें लगा देता है। इसलिये वह संसारके आश्रित नहीं रहता।

नित्यतृप्तः—(तथा) सदा तृप्त है।

जीव (आत्मा) परमात्माका सनातन अंश होनेसे सत्-स्वरूप है। सत्का कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। परंतु जब वह असत्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसे अपनेमें अभाव अर्थात् कमीका अनुभव होने लगता है। उस कमीकी पूर्ति करनेके लिये वह सांसारिक वस्तुओंकी कामना करने लगता है। इच्छित वस्तुओंके मिलनेसे एक प्रकारकी तृप्ति होती है; परंतु वह तृप्ति ठहरती नहीं, वह क्षणिक होती है; कारण कि संसारकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि प्रतिक्षण अभावकी ओर जा रही है; अतः उनके आश्रित रहनेवाली तृप्ति स्थायी कैसे रह सकती है ? सत्-वस्तुकी तृप्ति असत्-वस्तुसे हो ही कैसे सकती है ? अतः जीव जबतक उत्पत्ति-विनाशशील क्रियाओं और पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मानता है तथा उनके आश्रित रहता है, तबतक उसे स्वतःसिद्ध नित्यतृप्तिका अनुभव नहीं होता।

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष निराश्रय अर्थात् संसारके आश्रयसे सर्वथा रहित होता है, इसलिये उसे स्वतः-सिद्ध नित्यतृप्तिका अनुभव हो जाता है। तीसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें **'आत्मतृप्तः'** पदसे भी इसी नित्यतृप्तिकी बात आयी है।

सः कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि किंचित् एव न करोति—वह कर्ममें भलीभाँति लगा हुआ भी (वास्तवमें) कुछ भी नहीं करता।

'अभिप्रवृत्तः' पदका तात्पर्य है कि कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषके द्वारा होनेवाले सब कर्म साङ्गोपाङ्ग रीतिसे होते हैं; क्योंकि कर्मफलमें उसकी किञ्चित् भी आसक्ति नहीं होती। उसके सम्पूर्ण कर्म केवल संसारके हितके लिये—लोकसंग्रहार्थ होते हैं।

जिसकी कर्मफलमें आसक्ति होती है, वह साङ्गोपाङ्ग रीतिसे कर्म नहीं कर सकता; क्योंकि फलके साथ सम्बन्ध होनेसे कर्म करते हुए बीच-बीचमें फलका चिन्तन होनेसे उसकी शक्ति व्यर्थ खर्च हो जाती है, जिससे उसकी शक्ति पूरी तरह कर्म करनेमें नहीं लगती।

'अपि' पदका तात्पर्य है कि साङ्गोपाङ्ग रीतिसे सब कर्म करते हुए भी वह वास्तवमें किंचित् भी कोई कर्म नहीं करता; क्योंकि सर्वथा निर्लिप्त होनेके कारण कर्मका स्पर्श ही नहीं होता। उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

जब वह कुछ भी नहीं करता, तब कर्मफलसे बँध ही कैसे सकता है ? इसीलिये अठारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीको कर्मोंका फल कहीं भी नहीं मिलता—**'न तु संन्यासिनां क्वचित्'**।

प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। अतः जबतक प्रकृतिके गुणों-(क्रिया और पदार्थ-) से सम्बन्ध है, तबतक कर्म न करते हुए भी मनुष्यका कर्मोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृतिके गुणोंसे सम्बन्ध न रहनेपर मनुष्य कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका प्रकृतिजन्य गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये वह लोकहितार्थ भलीभाँति कर्म करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता (गीता ५। ७)। (क्रमशः)

पछतावा

[कहानी]

(लेखक—श्रीकेशवदेवजी मिश्र कमल)

आँगनके कोनेमें लगे कूड़ेके एक छोटे-से ढेरपर कबूतर पक्षीके जोड़े अनाजके दाने चुग रहे थे और वे आनन्द-विभोर हो अपनी गर्दनको फुला-फुलाकर कुछ अस्पष्ट स्वरोंमें गुनगुनाते भी जा रहे थे। पास ही सतीश और राधा भी रंग-बिरंगे कपड़े पहनाकर अपने गुड्डा-गुड्डियोंका रास कर रहे थे। इतनेमें राधाकी दृष्टि खेलसे हटकर उस पक्षीके जोड़ेपर पड़ी। राधाने व्यग्रतासे कहा—'सतीश! ओ सतीश! चलो इन्हें पकड़ें। अरे देखो, कितने अच्छे हैं ये। सच सतीश, इन्हें अवश्य पकड़ें।'

सतीशने किया और कहा—बाबा कहते थे—'राधा! जीवको सताना अच्छा नहीं होता।'

राधा—'अच्छा क्या नहीं होता?'

सतीश—'पाप लगता है राधा!'

'ऊँह—पाप क्या होता है!' कहती हुई राधा बलपूर्वक सतीशका हाथ पकड़कर उसे उधर ही खींच ले गयी। फिर वे दोनों बालक कबूतर-कबूतरीको पकड़नेका प्रयास करने लगे, किंतु निष्फल।

× × ×

जंगलमें एक पेड़ था, उसपर उनका घोंसला था। उस घोंसलेमें वे दोनों कबूतर-कबूतरी रहते थे। दोनोंमें अगाध प्रेम था। उन दोनोंके शरीर दो, पर प्राण एक थे। दोनों ही एक साथ नभ नापते, पृथ्वीपर दाना चुगकर पेट पालते, नदी-सरोवरोंमें पानी पीकर प्यास बुझाते, वायुमें खेलते, आनन्दातिरेकमें पर फैला-फैलाकर रेतीमें तैरते और वे कभी एक-दूसरेको अलग न होने देते।

उषा जब इनके तृण-निर्मित कपाटोंको खोलती तो ये निकलकर आकाशमें लंबी उड़ान भरते और भरते रहते। फिर कहीं दूर, बहुत दूर जाकर पृथ्वीपर उतर जाते। शालियाँ चुगते, पेट भरते और संध्या होते-होते अपने नीड़में वापस आ जाते। दोनोंका नित्यका यही क्रम था, दोनों बड़े सुखी थे।

कबूतर-कबूतरी दोनों आकाशमें उड़ रहे थे। दोनोंकी दृष्टि अचानक उस आँगनमें बिखरे अनाजपर गयी, जहाँ वे दोनों बच्चे सतीश और राधा खेल रहे थे। दोनों कबूतर-कबूतरी उतरे और आँगनमें पड़ाव डाल दिया। बिना आमन्त्रणके ही वे दोनों पक्षी निमन्त्रित हो गये और परसे हुए पदार्थको दोनों एक-दूसरेका मुँह निहार-निहारकर खाने लगे।

राधाने देखा, वह सावधान हुई और बड़ी सतर्कतासे उसने अपनी कमीज उतारकर उन पक्षियोंपर डाल दी। कबूतर उसमें आ गया, वह उड़ नहीं सका। कबूतरीने जोरसे हाथ-पाँव मारे और वह निकल भागी।

कुछ देर वह घबरायी-सी इधर-उधर देखती रही, फिर उड़कर मुँडेरपर जा बैठी। कबूतरी बन्धनमुक्त थी,

स्वतन्त्र थी, किंतु यह स्वतन्त्रता आज उसे लाख बन्धनोंसे भी बढ़कर थी। वह तड़प रही थी, उस हृदयकी पीड़ाको आज कौन समझ सकता था ?

हृदयमें आशाकी बेल और आँखोंमें आँसुओंका वेग लिये उस असहाय कबूतरीको मुँडेरपर बैठे-बैठे संध्या हो चली, पर उन बालकोंने कबूतरको छोड़नेका नामतक न लिया। कबूतरी भी थकी, क्लान्त, आखिर उसी तरह मुँडेरपर बैठी रही। कबूतरीका नीड़ था, पर आज वह सूना था। सर्वस्व खोकर उस नीड़में अकिंचन रहकर क्या उसे शान्ति मिल सकती थी ?

राधा घरसे चावल ले आयी। सतीश पानी लाया। दोनों मिलकर कबूतरको खिलाने-पिलाने लगे। पर उसने तो एक दानातक नहीं चुगा। आज उसे भूख कहाँ थी ? यदि वे दोनों ही आज बन्धनमें होते तो मरना भी उसे अच्छा लगता। पर आज उस कबूतरको वह एकाकी बंदी जीवन कितना असह्य था, कितना निर्मम था।

राधा और सतीश कबूतरक पकड़कर प्रसन्न थे। दोनोंने एक टोकरीके नीचे कबूतरको रहनेकी जगह दी और दूसरी ओर कबूतरी अपना सशंक चित्त लिये ऊपर मुँडेरपर उसी तरह अब भी बैठी हुई थी।

रजनीके निबिड़ तममें जब समस्त जगती निद्रामें सोयी हुई थी, तब नित्यके सोनेवाले आज वे दोनों प्राणी कबूतर और कबूतरी एक टोकरीके नीचे, दूसरा मुँडेरपर बराबर जाग रहे थे। उनकी आँखोंमें नींद नहीं थी, आलस्य नहीं था। थी एकमात्र अभिलाषा दोनोंको अपने पुनर्मिलनकी। किंतु किसे पता था कि आजका उनका यह रात्रि-जागरण सदाके लिये ही उस कबूतरकी चिर-निद्रा बन जायगी।

बिल्ली घूमती-घामती उस आँगनमें भी आयी; जहाँ टोकरीके नीचे दो बालकोंका खिलौना उस कबूतरीका जीवन-धन सुरक्षित रखा था। पहले तो बिल्लीने उस टोकरीकी चहारदीवारीका चक्कर लगाया। फिर उसे सूँघा, बादको चोरोंकी भाँति दबे पाँव टोकरीको धीरेसे खिसकाकर कबूतरको मुँहमें दबाकर ले चली। ऊपरसे यह दृश्य कबूतरीने देखा और देखा—अपनी जीवन-निधिको अपनी ही आँखोंके सामने लुटते और देखा—अपने प्राणोंको निरीहावस्थामें तड़पते ! जो दृश्य कबूतरीने देखा, वह उसे असह्य हुआ। वह एकाएक चीखी। उसकी चीख सुनकर पेड़ोंपर बैठे और पक्षी भी उसकी सहानुभूतिमें चीख उठे। मानो वे सब मिलकर बिल्लीके अत्याचारमें विरोध प्रदर्शित कर रहे हों। इससे अधिक वे कर ही क्या सकते थे ? कबूतरीसे वह बीभत्स दृश्य नहीं देखा गया। वह कबूतरके रक्षार्थ मुँडेरसे उड़कर नीचे ऐसी तेजीसे आयी मानो वह बिल्लीको आते ही निगल जायगी और अपने कबूतरको कालके गालसे खींच ले जायगी; किंतु बेचारीका वश ही कहाँ चला। निराश वह हार मानकर पुनः उसी मुँडेरपर जा बैठी। कबूतरीके देखते-ही-देखते बिल्लीने अपने आखेटको धीरे-धीरे उदरस्थ कर लिया। बाकी कुछ न छोड़ा। स्मृतिमें वह केवल पंख छोड़ गयी।

× × ×

अब वे दोनों बालक राधा और सतीश वैवाहिक बन्धनमें बँधे तो दाम्पत्यके सुख-विलासमें अतीतके सारे पुण्य-पाप भूल गये। स्मृतियाँ धूमिल होकर पता नहीं किस अनन्तमें खो गयीं।

उन दोनों ही युवक-युवतीका हृदय-सागर हिलोरें ले रहा था। मनमें बहुत कुछ आकाङ्क्षाएँ थीं—आकाङ्क्षाएँ किशोर, जो उमगा आता था मानो भीतरसे एक वैभव उछाहमें हिलोर लेता फुहारमें फूटकर एक-दूसरेके आगे आ पड़ना चाहता था। वे दोनों

जगतीके दुःखोंसे अनजान थे और सुख उनकी सीमामें था। वे बहुत सुखी थे।

एक दिन ग्रीष्ममें सायं काल राधा सतीशकी इच्छाके विरुद्ध उसे नदी-तट ले आयी। फिर वे दोनों एक-दूसरेका हाथ पकड़कर पानीमें उतर गये। उतरकर शीतल जल-लहरोंसे खेलने लगे। इस प्रकार वे दोनों नदीकी शीतल जल-धारामें दिनभरकी तपन बहाये जा रहे थे। राधा सतीशके ऊपर पानी उछालती और सतीश राधाके ऊपर। दोनों ही उस जल-क्रीड़ामें मग्न थे। दोनों बड़े सुखी थे।

पानीमें इस प्रकार खेलते-खेलते जब बहुत देर हो गयी और झुट-पुटा बढ़ता आया तो सतीशने कहा—'राधा! लो, अब चलें, बहुत देर हो गयी, बाबा नाराज हो········।' इतना ही कहा था कि एकदम पानीमें चला गया और गायब हो गया!

कुछ दूरपर ही राधाने देखा कि एक बड़ा-सा जानवर सतीशको अगाध पानीकी ओर मुँहमें निगल जानेके प्रयत्नमें उछालता-डुबोता लिये जा रहा है····!!

राधा भागकर किनारे आ गयी। वह न तो रोयी, न चिल्लायी। किंकर्तव्यविमूढ़ बनी वह कुछ पूछती-सी आँखोंसे, कालके गालमें जा रहे सतीशकी ओर फिर नदीके उस अथाह जलको देख रही थी। आँखोंके सामने ही उसका जीवन-धन लुट रहा था और वह खड़ी-खड़ी देख रही थी। यदि वहाँ वह किसीको पुकारे भी तो किसे? वहाँ तो कोई भी न था।

उसकी भीगी आँखोंसे आँसुओंकी दो बूँदे ढुलक कर वहीं जमीनपर गिर पड़ीं और लगा कि व्याकुल कबूतरी छटपटा रही है।

देवालय-संरक्षण

(लेखक—श्रीजयगोपालजी सिंहल)

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'—मनुष्य श्रद्धामय है। किसी भी स्थानपर किसी भी वंश, जाति, परम्परामें मनुष्य जन्म ले, परंतु उसकी श्रद्धा ही उसके स्वरूपका प्रतीक है। कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी बिन्दुपर आकर मानवकी श्रद्धा केन्द्रित हो ही जाती है और वह उसी मानव-बिन्दुके आधारपर उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाता है। भारतवर्ष विश्वका हृदय-स्थान है। आध्यात्मिकता, धार्मिकता इस देशके कण-कणमें व्याप्त है। आजसे नहीं, अनादिकालसे भारतीयोंकी स्वस्थ चिन्तनधारा स्वतन्त्ररूपसे प्रवहमान रही है। मनुष्य-शरीर पाँच तत्त्वोंसे बना है। अतः स्वभावतः मनुष्यकी श्रद्धा एवं स्वभावके अनुसार सगुण ब्रह्मकी पञ्चोपासनाकी ओर प्रवृत्ति होती है। पृथक्-पृथक् तत्त्वके पृथक्-पृथक् देवता होते हैं। अतः जिस तत्त्वकी प्रधानता जिस मनुष्यके स्वभावमें होगी, उसी तत्त्वसे सम्बन्धित देवताके प्रति उसकी स्वाभाविक रुचि होगी। अतः महर्षियोंने विभिन्न मनुष्योंके लिये विभिन्न देवोंकी उपासनाका निर्देश किया है। हमारे देवालय भारतीय संस्कृतिके केन्द्र हैं, जहाँ मनुष्य अपनी श्रद्धा एवं स्वभाव तथा अभिरुचिके अनुसार स्वतन्त्ररूपसे साधना कर आत्मोन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी तत्त्वके गुण कहे गये हैं और विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणपति एवं शिवका इनसे क्रमशः सीधा

सम्बन्ध है । अतः मनुष्य अपने स्वभावानुसार न्यूनाधिक रूपमें इन देवताओंकी ओर श्रद्धासे उन्मुख होता है और उनकी आराधनाके लिये, उपासनाके लिये अच्छे-से-अच्छे मन्दिरोंका निर्माण करता है, उनमें प्रतिमाओंकी प्राण-प्रतिष्ठा करता है और इष्टदेवकी मूर्तिके माध्यमसे उक्त परमतत्त्वको प्राप्त करता है । वह अपने मनकी चिन्ता, दुःख, विषमता आदि विषम स्पन्दनोंको अपने भगवद्विश्वासरूपी सम-शक्तिद्वारा पराभूत करते हुए आत्मशक्तिको प्रकाशित करनेमें सफल हो जाता है ।

हमारे महर्षियोंने बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक इन सभी बातोंपर विचार करते हुए मन्दिरोंका विज्ञान-सिद्ध निर्माण करानेका विधान किया है, जहाँ शङ्ख, घण्टा, घड़ियाल आदिके द्वारा शब्द, धूप, दीप आदिके सुगन्धित वायुसे 'गन्ध' एवं वायुकी शुद्धि विविध रंगोंके वस्त्रालङ्कारों, पुष्पों आदिसे सुसज्जित मूर्तियोंके स्पर्शसे, पूजनसे, दर्शनसे नेत्रोंको आह्लादित कर तृप्ति-लाभ करते हैं । केशर, चन्दन, तुलसी, गङ्गाजल, कस्तूरी-मिश्रित चरणामृत पानकर अनेक विकारोंका शमन करते हैं । दुग्ध, दधि, घृत, शर्करा, मधु-मिश्रित पञ्चामृतके पानसे अनेक शारीरिक विकारोंको दूर कर, इस पाञ्चभौतिक शरीरको देवालयमें प्रवेशका अधिकारी बनाकर पवित्र अलौकिक वातावरणका निर्माण कर आत्मलाभ करते हैं ।

अपनी इसी उपासना-पद्धतिको अपनाते हुए भारतीय जनोंने लाखों-करोड़ों वर्षोंसे इस देशके कोने-कोनेमें स्थित नगरों, कस्बों तथा ग्रामोंमें हजारोंकी संख्यामें देवालयोंका निर्माण कर अपनी श्रद्धाकी अभिव्यक्ति की है । प्राचीन कालमें जब वर्तमान भौतिक साधन सुलभ नहीं थे, यहाँके निवासियोंने विशाल पर्वतोंकी दुर्गम कन्दराओं, शिखरों, उपत्यकाओंसे लेकर पवित्र नदियोंकी पावन घाटियों तकमें बड़े-बड़े विशाल गगनचुम्बी मन्दिरोंका निर्माण किया । उनमें भगवान्‌के अनेक रूपोंके श्रीविग्रह प्रतिष्ठित किये और सहस्रों रुपयोंसे दैनिक भोग तथा शृङ्गार, पूजन-अर्चन आदिके द्वारा अपनी श्रद्धाकी अभिव्यक्ति करते आ रहे हैं ।

विदेशी आक्रमणोंसे इन पवित्र धरोहरोंकी रक्षाके लिये हजारों धर्मवीर बलिदानी वीरोंने अपने शीश तक कटाये, सर्वस्व बलिदान करके येन-केन-प्रकारेण इनकी रक्षा की और इनके अस्तित्वको कायम रखा । हमारे पूर्वजोंके अमर बलिदानोंका ही यह फल है जो देवालयोंके रूपमें विद्यमान हैं । भारत स्वतन्त्र हुआ तो इस देशकी धर्मप्राण जनताने सुखकी साँस ली और राष्ट्रभरमें एक नहीं अनेकों दिव्यातिदिव्य एवं भव्यातिभव्य मन्दिरोंका निर्माण कराया और अब भी यह क्रम जारी है । लक्ष्मीके उपासक, धर्मप्रिय, धनाढ्य लोग अपने हृदयमें निहित श्रद्धा एवं भक्तिका प्राकट्य इन देवालयोंके निर्माणके माध्यमसे करते रहे हैं; जिससे यश और प्रसिद्धि मिलना उसका गौण एवं लौकिक फल है । भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी कृपासे प्राप्त सम्पत्तिका विनियोग उनके भक्तोंद्वारा, उनके लिये विशाल भव्य मन्दिरोंके रूपमें होना स्वाभाविक ही है । **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'** की भक्तिभावना इन देवालयोंमें होनेवाले भोग-प्रसाद आदिसे स्पष्ट प्रकट होती है । परंतु उस सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् निर्गुण ब्रह्मकी सगुण-साकार श्रीविग्रहके रूपमें होनेवाली उपासनाका एक दुर्बल पक्ष भी है, जिसे छिपाना अनुपयुक्त होगा । उसीपर विचार करने-हेतु यह प्रसङ्ग उठाया गया है । कुछ साधनसम्पन्न न्यासों एवं समितियों आदिद्वारा संचालित व्यवस्थावाले देवालयोंको छोड़कर आज इन देवालयोंकी, हिन्दू-धर्म, संस्कृति-श्रद्धा एवं भक्ति-भावके प्रतीक इन आध्यात्मिक

केन्द्रोंकी वर्तमान दशापर देशवासियोंको विचार करना चाहिये। असंख्य मन्दिर उपेक्षित दशामें पड़े हुए हैं। पूजा-भोगकी नियमित व्यवस्था न होनेसे मूर्तियोंमें देवत्व नहीं रहता, ऐसा शास्त्रवचन है। देवत्वके अभावमें उत्तम पवित्र धरोहर अश्रद्धा उपेक्षा एवं उपहासका कारण बनकर, हमपर मूक दृष्टि डालकर कुछ करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। जब वहाँ न घण्टा बजता है न घड़ियाल, न आरती होती है, न पूजन-प्रसाद, न सत्संग होता है न सत्-शिक्षाका प्रचार-प्रसार, न प्रकाशकी व्यवस्था है, न सफाईकी। तो ऐसे देवत्वहीन वातावरणमें धर्म-हीन एवं धर्मके शत्रु नास्तिक व्यक्ति चोर और तस्कर बनकर हमारी संस्कृतिघातियोंके रूपमें प्रतिष्ठित हो कला और धर्मके प्रतीक, भक्ति और श्रद्धाके प्रतीक उन मूर्तियोंको देशके बाहर भेज रहे हैं, जो विदेशी विधर्मियों और बड़े-बड़े धनाढ्य अरबपतियोंके ड्राइंग रूमोंकी शोभा बढ़ा रही हैं। वे धीरे-धीरे भक्ति-भावसे आप्यायित देवालयोंको शुष्क श्मशानके रूपमें परिवर्तित करनेका कुकृत्य कर रहे हैं।

हम अपनेको धर्मात्मा कहलानेमें निःसंदेह गौरव अनुभव करते हैं। अधिकांश व्यक्ति अपने-अपने विश्वासानुसार नित्य मन्दिरमें जाकर दर्शन-पूजन-अर्चनादि भी करते हैं। विभिन्न अवसरपर बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठान भी सम्पन्न कराते हैं, जिनमें आज भी लाखों-करोड़ों रुपये नित्य इस धर्मप्राण देशमें व्यय होते हैं, यह सन्तोषकी बात है। परंतु उन मन्दिरोंके ठीक-ठीक रख-रखावके लिये, मूर्तियोंकी रक्षाके लिये, आज इन भक्तोंतकको समय नहीं है तो फिर अन्योंसे क्या आशा की जायगी कि वे इस पुनीत कार्यकी ओर अग्रसर होंगे। विभिन्न सम्प्रदायोंके मूर्धन्य आचार्यों-से विनम्र, करबद्ध निवेदन है कि वे देवालय-संरक्षण-कार्यकी ओर थोड़ा ध्यान देकर इस अमर थातीकी रक्षा करनेमें मार्ग-दर्शन करें। अपने अनुयायियों, भक्तोंको इस ओर प्रेरित करें कि चाहे नये मन्दिरोंका निर्माण सम्प्रति स्थगित भी करना पड़े, परंतु प्राचीन देवस्थानोंकी मरम्मत, सफाई, पुताई, प्रकाश, पानी, पूजा एवं आरतीकी व्यवस्थाके साथ-साथ मूर्तियोंकी सुरक्षाकी ओर शीघ्र ध्यान दें।

सम्पूर्ण देशमें धर्मप्राण जनताको चाहिये कि इस ज्वलन्त प्रश्नपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपने-अपने क्षेत्रोंके महात्माओं, विद्वानों, आचार्योंकी संरक्षतामें योजनाबद्ध रूपसे कार्यका संचालन करें। छोटे-बड़े सभी मन्दिरोंकी सूचियाँ तैयार करके उपेक्षित पड़े मन्दिरोंके जीर्णोद्धारमें लग जायँ। थोड़ी-थोड़ी मरम्मत एवं पुताईसे ही चाहे कार्य आरम्भ हो, परंतु यह आज समयकी पुकार है। हमारी आस्थाके मान-बिन्दुओंपर आज संकट है, हमारे चरित्रके हनन एवं धार्मिक संस्कारोंके समूल नष्ट होनेकी स्थिति बनी हुई है। सम्पूर्ण राष्ट्रके सर्वधर्म समभाव और 'वसुधैव कुटुम्बकम्'-की उदात्त भावनासे परिपूरित होते हुए भी आज इस राष्ट्रके निवासियोंके रक्तमें धर्मविहीनताके विषैले तत्त्व शनैः-शनैः प्रविष्ट हो रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि जब भी इस धर्मपर आपत्ति आयी, इसके अनुयायियोंने प्राणपणसे उसकी रक्षा की है। आओ, हम प्रतिज्ञा लें कि आजके इस भीषण कालमें हम अपनी उस पवित्र धरोहरोंकी रक्षामें आजसे ही जुट जायँगे और सभी देवालयोंके निकट-निवासियोंसे सम्पर्क स्थापित कर उन्हें इस पुनीत कार्यके लिये प्रेरित करेंगे।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

नारीमें अद्भुत शक्ति

अब तो मेरी अवस्था लगभग चालीस वर्षकी है, परंतु यह बात तबकी है, जब मैं दस वर्षकी थी। हमारे पड़ोसमें एक चन्दूलाल मास्टर रहते थे। उनकी पहली पत्नीका देहान्त हो गया था। उन्होंने दूसरा विवाह किया था। पहली पत्नीसे पुत्री हुई थी, जिसका नाम चम्पा था। उन्होंने सोचा तो यह था कि दूसरी पत्नीके आनेपर चम्पाको माँ मिल जायगी और वह सुखी हो जायगी, किंतु हुआ वही, जो प्रायः होता है। नयी पत्नी बड़ी कर्कशा निकली। वह चम्पाको अकारण ही सताया करती। चंदू मास्टर बहुत दुःखी रहते। कभी-कभी कह भी बैठते कि यदि ऐसा पता होता कि दूसरा विवाह करनेसे इसका दुःख बढ़ जायगा तो विवाह कभी न करता। किंतु अब क्या होनेवाला था!

चम्पा मेरे साथ ही पढ़ती थी। हम दोनों साथ-साथ पढ़ने जाती। अपनी सौतेली माँद्वारा दिये जानेवाले त्रासोंको वह मुझसे तथा हमारे घर आकर मेरी माँसे भी कहती। सुनकर हमारे नेत्रोंमें भी अश्रु आ जाते और उसे समझा-बुझाकर घर भेजती। कुछ दिन बाद उसकी सौतेली माँके आग्रहसे उसका पढ़ना भी बंद करा दिया गया और वह घरके काममें लगा दी गयी। चन्दू मास्टरकी नयी पत्नीने अपने एक सम्बन्धीके यहाँ चम्पाका विवाह करा दिया। वर-पक्षसे उसने इसमें अच्छी-खासी रकम ली थी; क्योंकि लड़का धनी परिवारका होते हुए भी बिल्कुल मूर्ख-जैसा था। चम्पाने सोचा कि चलो ससुरालमें जाकर तो सौतेली माँके त्राससे छूट जाऊँगी, किंतु उसे यहाँ भी वही दुःख भोगनेको मिला। सास-ननद अकारण परेशान करतीं। पति तो पागल-जैसा था ही। उसको उल्टा-सीधा पढ़ाकर उससे वे चम्पाको पिटवातीं। अब उसे संसारमें कोई भी अपना न दीखता था। वह कई बार आत्महत्या करनेकी सोचती, परंतु पिताजीका स्मरण हो आता, और रुक जाती।

कुछ दिन बाद वह ससुरालसे गाँव आयी। उसने अपने दुःखकी सब बातें हमारी माँको सुनायीं। माँने उसे आश्वासन दिया और फिर चन्दू मास्टरको बुलाकर सब बताया तथा कहा कि अब इसे ससुराल न भेजकर यहीं पढ़ाइये और किसी काममें लगा दीजिये, जिससे यह अपना जीवन-यापन कर सके। पत्नीके भयसे चन्दू मास्टर अपने पास तो उसे नहीं रख सके, परंतु उन्होंने उसकी एक मौसीके पास भेज दिया। वह अकेली थी और एक पाठशालामें अध्यापिका थी। उसने चम्पाको बड़े प्रेमसे रखा और पढ़ाया। मैट्रिककी परीक्षा पास कर लेनेपर वहीं पाठशालामें उसे अध्यापकीका काम भी दिला दिया। अब चम्पा सुखसे रहने लगी।

अचानक एक दिन उसके पिता चन्दू मास्टर आये और वे उससे ससुराल चले जानेका आग्रह करने लगे; कारण कि चम्पाके पति बहुत अधिक बीमार थे। मौसीकी इच्छा तो नहीं थी, परंतु तब भी चन्दू मास्टरके कहनेसे उन्होंने चम्पाको कुछ दिनकी छुट्टियोंपर ससुराल भेज दिया। वह ससुराल पहुँची तो देखा परिवारके सब लोग बहुत दुःखी हैं। उसका पति किशोर मूर्च्छित अवस्थामें बीमार पड़ा है। वह तन-मनसे सेवामें जुट गयी। दिन-रातके परिश्रमके परिणामस्वरूप उसका पति ठीक हो गया। थोड़े ही दिनोंमें वह टहलने भी लगा। अब चम्पाने अपनी नौकरीपर वापस जानेकी बात चलायी। ससुराल-वालोंकी आज्ञा मिलनेपर वह अपने पतिके साथ

मौसीके पास आ गयी। मौसीको किशोरका आना अच्छा नहीं लगा था, फिर भी उसने कुछ कहा नहीं। चम्पा पतिके साथ दूसरा घर लेकर मौसीकी आज्ञासे अलग रहने लगी। वह घरपर रहकर अपने पति किशोरको लगनपूर्वक पढ़ाती। कुछ दिनोंमें ही उसे मैट्रिक-परीक्षा दिला दी और पास हो जानेपर अपनी पाठशालामें ही अध्यापक बना दिया। प्राइवेट परीक्षा देकर उसने एम्० ए० की परीक्षा भी पास कर ली। पति किशोर उसका अब बहुत सम्मान करता। उनकी दो संतानें हुईं—एक पुत्र, एक पुत्री। किशोर कभी-कभी कहता कि मैं अपने बच्चोंको इतना अधिक पढ़ाऊँगा कि वह पढ़कर अपनी माँ जितने होशियार बन जायँ। उनके नेत्रोंमें चम्पाके प्रति अपार कृतज्ञता सदा दिखायी देती थी।

यह सुयोग देखकर मुझे ऋषि-महर्षियोंकी वह बात स्मरण हो आयी, जिसमें पतिव्रता नारीकी महिमा बतायी गयी है और कहा है कि कुशल सद्-गृहिणी चाहे तो परिवारका जीवन बदलकर सुखमय बना सकती है। चम्पाने अपने एक पागल पतिको महान् विद्वान् बना दिया—अपनी सेवा और सद्व्यवहारके बलपर। नारी-शक्तिकी इस महत्तापर मेरा मस्तक बर-बस झुक जाता है।

(२)

सभी मनुष्य ऐसे ही बनें तो—

एक विद्यालयके प्रधानाचार्य देखनेमें शान्त, गम्भीर, मितभाषी और वयोवृद्ध अनुभवी थे। उनकी धर्मपत्नी भी उतनी ही मिलनसार और सद्भावपूर्ण थीं। वे सुखमय दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते थे। किसी वस्तुकी कमी नहीं थी।

प्रधानाचार्यके जीवनकी विशेषता थी, उनकी पत्नीकी अनुकूलता। ऐसा दाम्पत्य-जीवन सौभाग्यसे ही प्राप्त होता है। उनके विद्यालयमें कोई विद्यार्थी अपंग हो, बहरा हो अथवा तोतला हो तो आचार्य उसके प्रति बहुत स्नेह रखते—वे इसे अपना कर्तव्य समझते थे।

कभी गाँवमें कोई अंधा या साधु-संत आ जाय तो वे स्वयं उन्हें अपने घर भोजन करनेकी प्रार्थना करते और घर ले जाकर प्रेमसे भोजन कराते।

एक समय एक कुरूप व्यक्ति गाँवमें कहींसे आ गया। लड़कोंने उसके पीछे पड़कर बहुत परेशान किया। उसके तितर-बितर बाल, गड्ढे-जैसी आँखें, एक बड़ा-सा लोटा, अस्त-व्यस्त कपड़े, मैला और दुर्गन्धिवाला वह व्यक्ति पूरे गाँवमें घूम चुका। उसके पासतक कोई खड़ा होना नहीं चाहता था। कटे हुए ओठ उसकी भयंकरताको बढ़ा रहे थे। दोपहरतकमें तो गाँव छोड़कर चले जाने-जैसी उसकी स्थिति आ गयी। लड़कोंके द्वारा ही प्रधानाचार्यके कानोंतक यह बात पहुँची। वे चल पड़े उस कुरूप व्यक्तिके अन्वेषणमें। गाँवके बाहर वह भूखा-प्यासा बैठा हुआ था, वहाँ पहुँच गये। पहले तो वह इन्हें देखकर भयभीत हो गया कि कहीं ये भी मारने या सताने तो नहीं आ रहे हैं; परंतु इनके 'ओ भाई!' प्रेम-भरे शब्द सुनकर उसके मुखमण्डलपर प्रसन्नता दौड़ गयी।

समीप जाकर आचार्यने उसका हाथ पकड़ा और अपने घर भोजन करनेके लिये कहा। पूरे गाँवपर जो एक घड़ी पहले रोष व्यक्त कर रहा था, वह अब गाँवको आदरभरी दृष्टिसे देखने लगा। दोनों घर पहुँचे।

प्रधानाचार्यने उसे नहानेको गर्म पानी दिया। मानो घरपर कोई मेहमान आया हो। उसे नहलाया और पहननेको कपड़े दिये। इतना ही नहीं, प्रेमसे भोजन कराया और पाँच रुपये दिये। कोई परेशान न करे, इससे वे उसे गाँवके बाहर तक पहुँचाने गये।

यह सम्पूर्ण प्रसङ्ग जब मैंने सुना तो मेरा मस्तक उन प्रधानाचार्यके प्रति स्वतः झुक गया और अनेक प्रश्नोंमें एक प्रश्न यह भी अधिक हो गया कि यदि 'सभी मनुष्य ऐसे ही बनें तो ?'

(अखण्ड-आनन्द,)

— रमा यादव

(२)

पती-पत्नी दोनों निःस्पृह

बात अठारहवीं शताब्दीकी है। पण्डित श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तने अध्ययन समाप्त करके बंगालके विद्या-केन्द्र नवद्वीप नगरके बाहर अपनी कुटिया बना ली थी और पत्नीके साथ त्यागमय ऋषि-जीवन बिता रहे थे। उनके यहाँ अध्ययनके लिये छात्रोंका एक समुदाय सदा टिका रहता था। पण्डितजीने वहाँके अन्य विद्वानोंके समान राजासे कोई वृत्ति नहीं ली थी और वे किसीसे कुछ माँगते भी नहीं थे। एक दिन जब वे विद्यार्थियोंको पढ़ाने जा रहे थे, उनकी पत्नीने कहा—'घरमें एक मुट्ठी चावलमात्र हैं, भोजन क्या बनेगा ?' पण्डितजीने केवल पत्नीकी ओर देख लिया, कोई उत्तर दिये बिना ही कुटियासे बाहर वे अपने छात्रोंके बीच ग्रन्थ लेकर बैठ गये।

भोजनके समय जब वे भीतर आये, तब उनके सामने थोड़ेसे चावल तथा उबाली हुई कुछ पत्तियाँ आयीं। उन्होंने पत्नीसे पूछा—'भद्रे ! यह स्वादिष्ट शाक किस वस्तुका है ?'

पत्नीने कहा—'मेरे पूछनेपर आपकी दृष्टि इमलीके वृक्षकी ओर गयी थी। मैंने उसीके पत्तोंका शाक बनाया है।'

पण्डितजीने निश्चिन्ततासे कहा—'इमलीके पत्तोंका शाक इतना स्वादिष्ट होता है, तब तो हमलोगोंको भोजनके विषयमें कोई चिन्ता ही नहीं रही।'

इस समय कृष्णनगरके राजा थे—महाराज शिवचन्द्र। उन्होंने पण्डित श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तकी विद्वत्ताकी प्रशंसा और उनकी आर्थिक स्थितिकी बात भी सुनी। महाराजने बहुत प्रयत्न किया कि पण्डितजी उनके नगरमें आकर रहें, किंतु निःस्पृह ब्राह्मणने इसे स्वीकार नहीं किया। महाराज एक दिन स्वयं उनकी पाठशालामें पहुँचे। उन्होंने प्रणाम करके पूछा—'पण्डितजी ! आपको किसी विषयमें अनुपपत्ति तो नहीं है ?'

तर्कसिद्धान्तजी बोले—'महाराज ! मैंने चारु-चिन्तामणि ग्रन्थकी रचना की है। मुझे तो उसमें कोई अनुपपत्ति जान नहीं पड़ी। क्या आपको कहीं कोई अनुपपत्ति या असंगति मिली है ?'

महाराजने हँसकर कहा—'मैं आपसे तर्कशास्त्रकी बात नहीं पूछ रहा हूँ। मैं पूछता हूँ कि घरका निर्वाह करनेमें आपको किसी बातका अभाव तो नहीं ?'

पण्डितजीने सीधा उत्तर दिया—'घरकी बात तो घरवाली जाने।'

पण्डितजीकी आज्ञा लेकर महाराज कुटियामें गये। उन्होंने ब्राह्मणीको प्रणाम करके अपना परिचय दिया और पूछा—'माताजी ! आपके घरमें कोई अभाव हो तो आज्ञा करें, मैं उसकी पूर्तिकी व्यवस्था कर दूँ।'

ब्राह्मणी भी तो त्यागी निःस्पृह तर्कसिद्धान्तकी पत्नी थीं। वे बोलीं—'राजन् ! मेरी कुटियामें कोई अभाव नहीं है। मेरे पहननेका वस्त्र अभी इतना नहीं फटा कि जो उपयोगमें न आ सके, जलका मटका अभी तनिक भी फूटा नहीं है और फिर मेरे हाथमें चूड़ियाँ बनी हैं, तबतक मुझे अभाव क्या ?'

राजा शिवचन्द्रने भूमिमें मस्तक रखकर उस देवीको प्रणाम किया।

मनन करने योग्य

प्रेमोन्मत्तता

एक स्त्री बहुत दिनोंके बाद आये हुए अपने प्रेमीसे मिलनेके प्रेममें पगली हुई-सी चली जा रही थी। रास्तेमें बादशाहका पड़ाव था। बादशाह उस समय जाजिम बिछाकर नमाज पढ़ रहे थे। प्रेमोन्मत्त हुई उस स्त्रीको रास्तेका कोई भान नहीं था। वह जाजिमपर पैर रखकर आगे बढ़ गयी। बादशाहको गुस्सा तो आया, पर वे नमाज पढ़ रहे थे, इसलिये कुछ बोले नहीं। थोड़ी देरमें वह अपने प्रियतमसे मिलकर उसके साथ लौटी। बादशाहने उस स्त्रीको पास बुलाकर कहा—'अरी पापिनि! तुझे यह भी नहीं सूझा कि मैं नमाज पढ़ रहा हूँ और तू जाजिमपर पैर रखकर चली गयी।' उस प्रेमहृदया स्त्रीने निर्भयतासे कहा—'जहाँपनाह! एक मामूली मनुष्यके प्रेममें पगली होनेसे मुझको आपकी जाजिमका पता नहीं लगा, फिर भगवान्‌का ध्यान करते हुए आपने मुझको कैसे देखा? मालूम होता है कि आप केवल ऊपरसे ही नमाज पढ़ रहे थे, आपके मनमें भगवान् नहीं थे।'

उत्तर सुनकर बादशाहने अपनी भूल समझी और उस स्त्रीको धन्यवाद दिया। (सच है, उपासनाकी साधनामें तन्मयता ही सिद्धिदात्री होती है।)

माताकी क्षमा

द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंकी हत्या सोते समय कर देनेवाले गुरुपुत्र अश्वत्थामाको अर्जुन पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये। द्रौपदीने अश्वत्थामाको देखा। उसका क्रोध अकस्मात् शान्त हो गया। मातृहृदयमें दयाका सागर उमड़ पड़ा। द्रौपदीने अर्जुनसे कहा—'आर्य! इन्हें छोड़ दें, मैं इनके प्राण नहीं चाहती। ये गुरुपुत्र हैं। मेरे पाँचों पुत्रोंके मरनेसे जैसे मैं आज शोक-सागरमें डूब रही हूँ, यदि इन्हें मार दिया जायगा तो आपकी गुरुपत्नी भी मेरी ही तरह पुत्रशोकमें डूब जायँगी। मेरे पुत्र तो अब लौट कर आयेंगे नहीं, फिर बदला लेनेकी भावनासे मैं किसी दूसरी माताको अपनी ही भाँति दुखी बना दूँ, मेरा मन ऐसा नहीं चाहता। मैं इन्हें क्षमा करती हूँ। आपलोग भी क्षमा कर दें।'

पाण्डवोंपर द्रौपदीकी दयाका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने गुरुपुत्र अश्वत्थामाको छोड़ दिया। (द्रौपदी-जैसी आर्य ललनाकी यह उदात्तता कितनी अर्हणीय है!)

मालवीयजीकी महत्ता

महामना मालवीयजीको एक विद्वान्‌ने कहा—'महाराज! आप मुझे सौ गालियाँ देकर देख लें, मुझे क्रोध नहीं आयेगा।' इसपर मालवीयजीने मुस्कराते हुए कहा—'पण्डितजी! आपके क्रोधकी परीक्षा तो सौ गालियाँ देनेपर होगी, पर मेरी जबान तो पहली ही गालीसे गंदी हो जायगी, मैं ऐसा क्यों करूँ?'

सबसे महान् कौन

एक बार देवर्षिके मनमें यह जाननेकी इच्छा हुई कि जगत्‌में सबसे महान् कौन है। उन्होंने सोचा कि चलूँ भगवान्‌के पास ही चलकर पूछूँ। वहीं इसका ठीक-ठीक उत्तर मिल जायगा। वे सीधे वैकुण्ठमें गये और वहाँ जाकर प्रभुसे अपना मनोभाव व्यक्त किया।

प्रभुने कहा—नारद! सबसे बड़ी तो यह पृथ्वी ही दीखती है, पर वह समुद्रसे घिरी हुई है, अतएव वह भी बड़ी नहीं है। रही बात समुद्रकी, सो उसे अगस्त्य मुनि पी गये थे, अतः वह भी बड़ा कैसे

हो सकता है। इससे तो अगस्त्यजी सबसे बड़े हो गये। पर देखा जाता है कि अनन्ताकाशके एक सीमित सूचिका-सदृश भागमें वे केवल एक खद्योतवत्—जुगनूकी तरह चमक रहे हैं, इससे वे भी बड़े कैसे हो सकते हैं? अब रहा आकाशविषयक प्रश्न। शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है कि भगवान् विष्णुने वामनावतारमें इस आकाशको एक ही पगमें नाप लिया था, अतएव वह भी उनके सामने अत्यन्त नगण्य है। इस दृष्टिसे भगवान् विष्णु (हम) ही सर्वोपरि महान् सिद्ध होते हैं। तथापि नारद! वे भी सर्वाधिक महान् नहीं हैं, क्योंकि तुम्हारे हृदयमें वे भी अङ्गुष्ठमात्र स्थलमें ही सर्वदा अवरुद्ध देखे जाते हैं। इसलिये भैया! तुमसे बड़ा कौन है? वास्तवमें सर्वत्र भगवद्दर्शी, त्रिनयी भक्तरूप तुम ही सबसे महान् सिद्ध हुए—

पृथ्वी *तावदतीव विस्तृतिमती तद्वेष्टनं वारिधिः
पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना स व्योम्नि खद्योतवत्।
तद्व्याप्तं दनुजाधिपस्य जयिना पादेन चैकेन खं
तं त्वं चेतसि धारयस्यविरतं त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्॥

दहेजके लिये नव-वधुओंका उत्पीड़न एक महान् पाप

कम दहेज मिलनेके कारण आये दिन नवविवाहिता युवतियोंके उत्पीड़नका समाचार मिलता रहता है। यहाँतक कि कुछ नव-वधुएँ उत्पीड़नके कारण आत्महत्या-तक कर लेती हैं या कहीं-कहीं ससुरालवालोंके द्वारा उनकी हत्या करा देनेकी बात भी कही जाती है। इस प्रकारके समाचार समाजके लिये लज्जाजनक तो हैं ही, धार्मिक जगत्के लिये भी अत्यन्त दुःखदायी एवं कष्टप्रद हैं। मानवीय मूल्योंके आधारपर तो इस बातकी जितनी भी कड़ी निन्दा की जाय, वह बहुत ही थोड़ी होगी। साथ ही अपनी संस्कृति और धर्मके अनुसार इस प्रकारका क्रूरतापूर्ण व्यवहार एवं जघन्य कृत्य करनेवालोंकी क्या गति होगी, यह नहीं कहा जा सकता।

लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे भी प्रत्यक्षतः स्त्री-जातिका कितना त्याग है, इसका शब्दोंमें वर्णन नहीं हो सकता। प्रारम्भके जीवनमें पंद्रह-बीस सालतक अपने माता-पिताके संरक्षणमें लाड़-प्यारसे पलनेवाली निश्छल और सरल बालाको विवाहके पश्चात् यकायक अपने उस पुरातन गृह, उन माता-पिता और बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर नये घरमें नये लोगोंके बीच आना पड़ता है, जहाँ उसके लिये एक नया संसार होता है। क्या यह उस नारीका कम त्याग है? उस नये परिवारमें उसे अपनी सास, श्वसुर, ननद, जेठानी और पतिदेवसे आवश्यक स्नेह और सद्व्यवहारके बदले यदि उसे दहेज और धनके लिये वाग्बाण, उत्पीड़न, यातना और दुर्व्यवहार प्राप्त होता है तो यह उसके कोमल हृदयके लिये अत्यन्त क्लेशकारक और कष्टदायी तो होता ही है, भारी अधर्म भी होता है। यह अधर्म कुलके लिये विनाशक हो सकता है—समाजके लिये भारी कलंक तो है ही।

धन तो संसारमें सभी चाहते हैं। अपने यहाँ चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें धन-(अर्थ-) की गणना भी की गयी है, पर वह धन किस कामका जो क्लेश, यातना और परपीड़न एवं विवशताके फलस्वरूप प्राप्त होता हो। इस प्रकारका धन तो परिवारमें स्वाभाविक रूपसे रहने-

* कहीं-कहीं क्षितीश्वंशादिमें 'श्रीमदनङ्ग भीम नृपते' पाठ है। अतः इससे अन्य भक्तोंकी भी प्रशस्ति समझनी चाहिये।

वाली सुख-समृद्धि और शान्तिका भी विनाश करनेवाला ही होता है।

भारतीय परम्परा तो यह है कि कन्या-पक्षके लोग कन्याके साथ अपने सामर्थ्यानुसार वस्त्राभूषण तथा धन भी विवाहमें देते हैं, पर वरपक्ष इसे अत्यन्त संकोचपूर्वक ही स्वीकार करता है। कारण, यह भी एक महान् प्रतिग्रहका ही स्वरूप है। शास्त्रोंमें भारतीय पद्धतिमें विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है, जिसमें पिता (दाता-या यजमान-रूपमें) अग्नि और देवताके साक्ष्यमें वरको अपनी कन्याका दान करता है। वह वरको विष्णुरूप और कन्याको लक्ष्मीस्वरूप कहकर दान देता है—**'विष्णुरूपिणे वराय लक्ष्मीस्वरूपिणीं कन्यामिमां सम्प्रददे।'** अपनी भारतीय संस्कृति वरको साक्षात् नारायणका स्वरूप एवं वधूको भगवती लक्ष्मीका स्वरूप मानती है। इसी प्रकार हमारी संस्कृतिमें नारी अपने पतिको परमेश्वर मानकर पूजा करती है और उसी प्रकार पुरुषको भी अपनी भार्यामें भगवती राज-राजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरीका दर्शन करना चाहिये। यही इस प्रकार धर्म—धर्मके अनुकूल पथ है। पति-पत्नीमें तथा परिवारके अन्य सदस्योंमें यदि एक-दूसरेके प्रति भगवद्-बुद्धि बन जाय तो घर घर नहीं, भगवान्‌का मन्दिर बन जाय।

कभी ऐसे उदाहरण भी प्राप्त हो सकते हैं कि अज्ञानताके कारण नवागन्तुक वधूमें कोई स्वभावगत कमजोरी हो, जैसे—क्रोध, अवज्ञा, राग-द्वेष इत्यादि; जिससे परिवारके दूसरे लोगोंको कष्टकी अनुभूति भी हो सकती है। पर ऐसे अवसरपर भी अपनी भावनामें कोई भेद न लाकर सहिष्णुता एवं धैर्यका अवलम्बन करते हुए परमपिता प्रभुसे ही उसके सुधारके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। आप यह अनुभव करेंगे कि भगवत्कृपासे स्वभावगत दोष या तो समाप्त हो गये या उनकी प्रतीति ही आपको नहीं होती।

यह एक अत्यन्त अनूठी और सरल प्रक्रिया है, जिसके प्रयुक्त होनेपर लोक-परलोक दोनों सुधर सकते हैं। यह भारतके ऋषि-महर्षियोंकी देन है, जो अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। भारतीय वधू 'पत्नी' होती है, साधारण नारी नहीं। अनेक शास्त्रोंने तो उस विशिष्ट नारी-(वधू-) को सर्वोच्च श्रद्धा प्रदान की है। यहाँतक कहा गया है कि स्त्रीकी प्रसन्नतासे परिवारमें सब प्रसन्न रहते हैं—**'स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।** (मनु० ३। ६२)।' उसके दुःखी और अप्रसन्न होनेसे सभी शोकातुर और दुःखी हो जाते हैं। यहाँतक कि सम्पूर्ण कुलका विनाश हो जाता है। **'शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्'** अतः अपनी मङ्गलकामना चाहनेवालोंको घरमें नारीका विशेषरूपसे सम्मान करना चाहिये। जिस घरमें नारीका सम्मान होता है वहाँ साक्षात् लक्ष्मी-नारायण प्रभुका निवास होता है—**'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।'** (मनु० ३। ६२)

हमारा यह पावन सामाजिक और धार्मिक कर्तव्य है कि परिवारमें या समाजमें किसी नारीका उत्पीड़न नहीं होने दें। यह हमारी भारतीय परम्परा है। समाज और धर्मके प्रति अपने कर्तव्यका पालन न करना एक महान् पाप है।

—राधेश्याम खेमका

अमृत-बिन्दु

(२)

अपने लिये करनेपर जो कर्म बाँधनेवाले हो जाते हैं, निष्काम-भावपूर्वक केवल दूसरोंके लिये करनेपर वही कर्म मुक्त करनेवाले हो जाते हैं।

साधक दृढ़तापूर्वक यह मान ले कि एक परमात्मा ही सब जगह सत्तारूपसे परिपूर्ण हैं। उनकी सत्तासे ही यह नित्य-निरन्तर अभावमें परिवर्तित होनेवाला संसार सत्तावान् दीख रहा है।

जो किसी भी व्यक्ति-वस्तुको अपनी और अपने लिये नहीं मानता, वह मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी संन्यासी ही है।

लेनेकी इच्छा रखनेसे दुःख और लेनेकी इच्छा न रखनेसे सुख अपने-आप आता है।

स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये कर्म करना ही भगवान्‌की आज्ञा है।

यदि अपना अभिमान दूर करना हो तो अपनेसे बड़े (श्रेष्ठ) पुरुषोंके पास रहकर उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

भगवान्‌को अपना मानकर उनकी आज्ञाका पालन करनेमें जितना लाभ है, उतना लाभ सांसारिक पदार्थोंके द्वारा किसी तरहसे भी नहीं है।

शरीर और संसारका संयोग निरन्तर वियोगरूपी अग्निमें जल रहा है।

शरीर और संसारका संयोग तो रहेगा नहीं, पर उनकी दासता रह जायगी, जो सदा दुःख देती रहेगी।

संसारके संयोगजन्य सुखकी इच्छापर ही संसारका मात्र दुःख टिका हुआ है।

मनको एकाग्र करनेमें उतना लाभ नहीं है, जितना लाभ मनमें स्थित राग-(सांसारिक वस्तुओंकी प्रियता-) को दूर करनेमें है।

अपना कोई दोष न हो और दूसरा व्यक्ति हमपर झूठा दोष लगाये तो उसकी तरफ न देखकर अपनी निर्दोषताकी तरफ ही देखना चाहिये, और यदि कोई छिपा हुआ दोष हो तो उसे दूर करके प्रसन्न रहना चाहिये।

जिन पुरुषोंके हृदयमें रुपयोंका महत्त्व है, उनके सङ्गसे बड़ी हानि होती है; और जिन पुरुषोंके हृदयमें भगवान्‌का महत्त्व है, उनके सङ्गसे बड़ा लाभ होता है।

नाशवान् चीजोंका अच्छा लगना दुःखका मूल है।

शरीरका आश्रय लेना असाधन है। इसलिये इसके आश्रयका त्याग सभी साधकोंके लिये बहुत आवश्यक है।

साधकमें हर समय यह सजगता रहनी चाहिये कि 'मैं साधक हूँ, और मुझे साध्यको प्राप्त करना है।' साध्य वही है, जो सबको मिल सकता है और सदाके लिये मिल सकता है।

क्रिया और पदार्थमें विशेषता देखनेसे नाशवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है, और उसमें भगवान्‌की विशेषता देखनेसे अविनाशीके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये साधकको प्रत्येक क्रिया और पदार्थमें भगवान्‌की ही विशेषता देखनी चाहिये।

वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, योग्यता और परिस्थिति—ये सब सेवा करनेके लिये ही हैं, भोग करनेके लिये नहीं।

नाशवान् संसारके साथ जो सम्बन्ध है, वह केवल दुःखके साथ सम्बन्ध है—'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' (गीता ६ । २३)।

भलाई करनेसे तो केवल समाजका हित होता है, पर बुराई-रहित होनेसे विश्वमात्रका हित होता है, कारण कि भलाई करनेमें सीमित क्रियाओं और पदार्थोंकी मुख्यता रहती है, पर बुराई-रहित होनेमें असीम भावकी मुख्यता रहती है।

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

पुनः प्राप्य प्रकाशित पुस्तकें

१–गीता पदच्छेद मझोली सजिल्द ... ४·००
२–गीता मोटे अक्षरवाली अजिल्द ... २.५०
३–" " " सजिल्द ... ३.५०
४–श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (सटीक दो खण्डोंमें) ... ५०·००
५–श्रीरामचरित मानस मोटा टाइप सटीक बृहदाकार ... ६०.००
६–रामचरितमानस मोटा टाइप सटीक ३०.००
७– " मूल मझला ... ७.५०
८–अध्यात्मरामायण ... १०.००
९–श्रीमद्भागवत सटीक (दो खण्डोंमें) ... ५०.००
१०–श्रीप्रेमसुधा सागर ... १०.००
११–राधामाधव चिन्तन ... ११.००
१२–संक्षिप्त महाभारत (दो खण्डोंमें) ... ३६.००
१३–ईशादि नौ उपनिषद् ... ६.००
१४–वेदान्तदर्शन ... ६.००
१५–लघुसिद्धान्त कौमुदी ... ३.००

श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा लिखित पुस्तकें

१–गीताका कर्मयोग खण्ड १ (३ रे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या) ... ३.२५
२–गीताका कर्मयोग खण्ड २ (४ व ५ वें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या) ... ४.००
३–गीताका सार (१८ वें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या) ... ४.५०
४–गीताका ज्ञानयोग (१३ व १४ वें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या) ... ४.००
५–गीताका भक्तियोग (१२ व १५ वें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या) ... ४.००
६–गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा (१६ व १७ वें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या) ... ३·००
७–गीताका सारभूत श्लोक (अ० १८ के ६६ वें श्लोककी विस्तृत व्याख्या) ... ०.८०
८–जीवनका कर्तव्य ... १.५०

संक्षिप्त भक्त-चरितमालाकी पुस्तकें

९–भक्त बालक ... ०.६०
१०–भक्त नारी ... ०.५०
११–भक्त पञ्चरत्न ... ०.६०
१२–भक्त चन्द्रिका ... ०.७५
१३–भक्त महिलारत्न ... ०.७५
१४–भक्त कुसुम ... ०.८०
१५–प्रेमी भक्त ... १.००
१६–आदर्श भक्त ... १.००
१७–भक्त सौरभ ... १.००
१८–भक्त सरोज ... १.००
१९–भक्त सुमन ... १.००
२०–भक्त दिवाकर ... १.००
२१–भक्त रत्नाकर ... १.००
२२–भक्तराज हनुमान ... ०.७५
२३–सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र ... ०.६०
२४–प्रेमीभक्त उद्धव ... ०.५०
२५–महात्मा विदुर ... ०.५०
२६–भक्तराज ध्रुव ... ०.५०

जीवनको दिव्य बनानेवाली पुस्तकें

२७–आनन्दमय जीवन ... २.५०
२८–भगवच्चर्चा भाग २ ... २.५०
२९–कल्याणकुञ्ज भाग १ ... १.२०
३०–दिव्य सुखकी सरिता (कल्याणकुञ्ज भाग ५) ... १.००
३१–सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ (कल्याणकुञ्ज भाग ६) ... १.२५
३२–विदुरनीति ... १.५०
३३–श्रीरामगीता ... ०.२५
३४–भगवान् क्या हैं ? ... ०.१५
३५–चेतावनी ... ०.१५
३६–शोकनाशके उपाय ... ०.१०

Our English Publication

Srimad Bhagavata Mahapuran (with Sanskrit text and English translation)
" " Part I 20.00
" " Part II 20.00
Gems of Truth (First Series) 02.50
Sure Steps to God-Realization 2.25
How to Attain Eternal Happiness 1.50
The Immanence of God ... 0.30
What is God ? 0.15
What is Dharma ? 0.10